वर्ष ४२] * * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०२६, मई १९६९

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.२५ (१५ शिलिंग)

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ५० पै० विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

जय मृत्युंजय

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
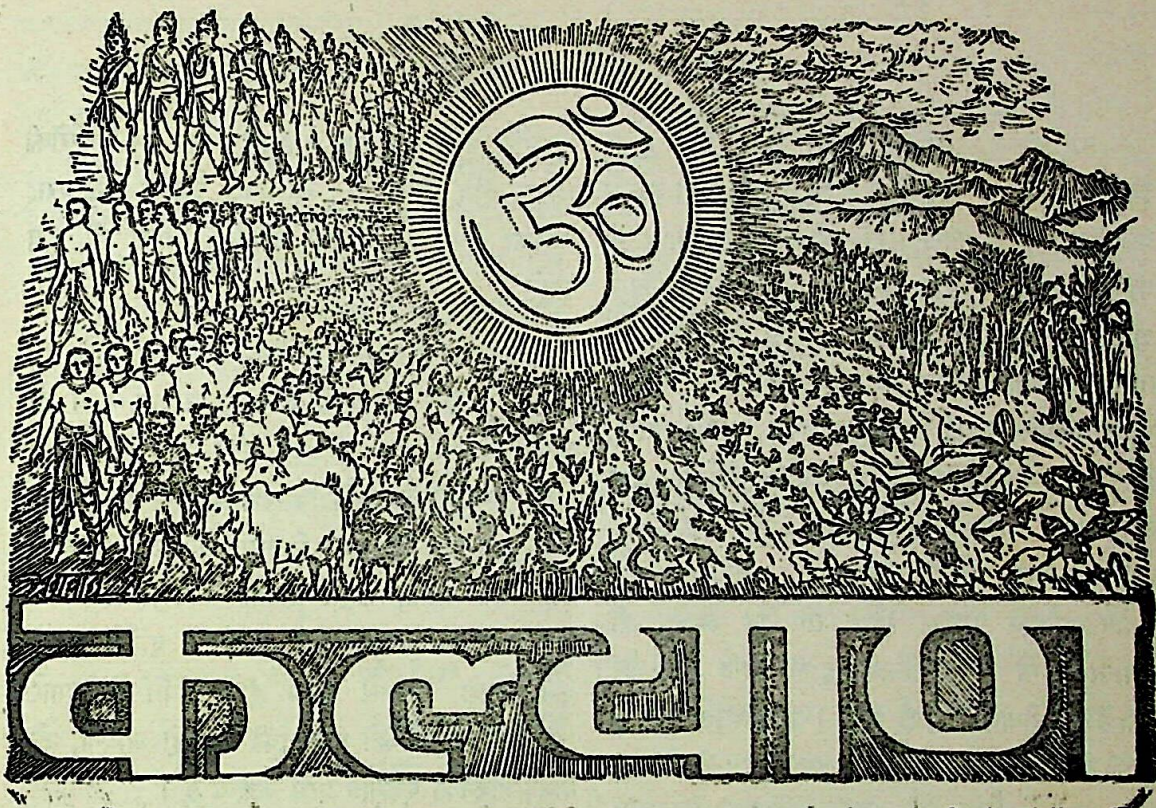
शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥

वर्ष ४३ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०२६, मई १९६९ { संख्या ५ पूर्ण संख्या ५१०

जय मृत्युंजय

शुभ कर्पूरगौर तन, त्रिलयन, शशिशेखर, त्रिपुण्ड्र वर भाल ।
जटाजूट सिर, छत्र नागफण, सुरसरिता राजत सब काल ॥
अक्ष-रत्न-हारावलि-मण्डित, नीलकण्ठ, भूषित तन व्याल ।
जय मृत्युंजय बाघंबरधर अभयद चतुर्बाहु सुविशाल ॥

याद रक्खो—विचारोंमें अपार शक्ति है। हमारे विचार जैसे होंगे, वैसे ही हम बनेंगे। वैसा ही हमारा वातावरण बन जायगा। विचारोंका प्रभाव मनपर भी पड़ेगा। हमारे विचारोंमें यदि प्रेम, त्याग, विनय, क्षमा और दूसरोंके गुण देखनेकी दृष्टि है तो इससे मनमें तो शान्ति तथा शान्तिजनित सुख रहेगा ही, शरीरमें भी पाचनशक्ति बढ़ेगी, रक्तका संचरण नियमित होगा, यकृतका कार्य व्यवस्थित होगा, दाहका कोई रोग नहीं होगा और आरामसे नींद आयेगी। इसी प्रकार यदि हमारे विचारोंमें घृणा, भोगासक्ति, अभिमान और परदोष-दर्शनकी परम्परा रहेगी तो मन निश्चय ही अशान्त रहेगा। अशान्तिसे दुःख होगा ही और शरीरमें भी बीमारियाँ पैदा होंगी। पाचनशक्ति नष्ट हो जायगी, हृदयमें तथा उदरमें जलन होगी। पेटमें घाव हो जायँगे, यकृतका कार्य बिगड़ जायगा और हृदयकी क्रियाशक्ति अव्यवस्थित रहेगी।

याद रक्खो—हमारे पास जो कुछ होगा, वही हम दूसरोंको देंगे और वही बीजसे फलकी भाँति अनन्तगुणा होकर हमें वापस मिल जायगा। हमारे विचारोंमें यदि घृणा है तो हम दूसरे पुरुषसे घृणा करेंगे, उसके दोष ही देखेंगे, बदलेमें वह भी हमसे घृणा करेगा और हमारे दोष देखेगा। फलतः हममें कटुता, कलह, क्लेश बढ़ जायँगे।

याद रक्खो—हम यदि किसीमें बुराई देखते हैं और उससे घृणा करते हैं तो उस पुरुषको उतनी ही बुराई तथा घृणा देते हैं। उसमें यदि बुराई तथा घृणा नहीं है तो पैदा हो जाती है और कुछ हैं तो वे बढ़ जाती हैं। अतएव उसमें घृणा, बुराई आदि दोष बढ़ानेका पाप करते हैं और बुरे विचारोंका बार-बार स्मरण होनेपर तथा उसके विचारोंमें भी हमारे प्रति घृणा-बुराईके विचार बढ़ जानेपर हमारे अंदर इन विकारोंकी अपार वृद्धि होती है। इस प्रकार दूसरोंमें घृणा-बुराई देखकर हम उनका तथा अपना दोनोंका ही बुरा करते हैं।

याद रक्खो—हमारे विचारके अनुसार यदि हम प्रत्येक प्राणीमें भगवान्को देखनेका अभ्यास करेंगे तो हमारे विचार और भी पुष्ट होंगे और सबके साथ हमारा व्यवहार-बर्ताव निर्दोष तथा सुन्दर हो जायगा एवं हमारे प्रति उन सबके विचारोंमें भी न्यूनाधिकरूपसे यही बात होगी, इससे उनका व्यवहार-बर्ताव भी सुधरेगा। तब भगवद्भावकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे हमारे कर्म क्रमशः पवित्रसे पवित्र होते जायँगे और हमारे जीवनकी गति निश्चित भगवान्की ओर हो जायगी, जो मानव-जीवनका एकमात्र परम कर्त्तव्य है।

याद रक्खो—बुरे विचारोंसे भयानक विष-वृक्ष पैदा होता है; क्योंकि वे वस्तुतः विष-बीज हैं। उस विषकी बढ़ी हुई ज्वाला वापस आकर हमारे हृदयमें भयानक घाव करके इतनी जलन पैदा कर देगी कि हम उसे सह नहीं सकेंगे और उस अवस्थामें भी दूसरोंमें बुराई देखकर उनपर दोषारोपण करते हुए अपनी बुराई और तज्जनित दुःख-दाहको बढ़ाते रहेंगे। अतएव किसीमें बुराई मत देखो, किसीसे घृणा मत करो, किसीकी निन्दा न करो। सबसे प्रेम करो। कोई तुमसे घृणा-बुराई करे तो उसका उत्तर प्रेमसे दो। घृणा-बुराईका उत्तर घृणा-बुराईसे देना तो जलती अग्निमें तेजाब मिला ईन्धन डालना है।

याद रक्खो—हम हर हालतमें सबसे प्रेम करेंगे तो हमारे हृदयमें प्रेम तथा तज्जनित शान्ति-सुखकी सुधा-सरिता बहने लगेगी जो हमारे साथ ही हमारे सम्पर्कमें

आनेवाले सबको शान्ति-सुधाका पान करवाकर तृप्त तथा सुखी बना देगी।

याद रक्खो—अपनी ओरसे अपने मनमें दूषित विचार तो कभी आने ही मत दो। दूसरोंकी बुराईका उत्तर भी सदा भलाईसे दो; क्रोधका उत्तर क्षमासे दो, दुष्टताका उत्तर दयालुतासे दो, हानिका उत्तर लाभसे दो, अपमानका उत्तर मानसे दो, अभिमानका उत्तर सम्मानसे दो, असुरताका उत्तर देवत्वसे दो। यह कभी मत समझो कि इससे तुम्हारी हानि होगी। शुभका फल निश्चय शुभ ही होगा। बीजके अनुसार ही फल होता है। अपने कोमल करोंसे सबको हृदयसे लगाओ, अपनी अभय वाणीसे दूसरोंका भय दूर करो, अपने मीठे वचनोंसे सबको सान्त्वना तथा शान्ति दो। नरक-तुल्य जगत्‌को अपने तन-मन-वचनके सच्चे साधु-व्यवहारसे स्वर्ग—दिव्य-आनन्दधाम बना दो।

'शिव'

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतमय उपदेश

(उनके पुराने पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। समय कम मिलनेके कारण उत्तरमें विलम्ब हो गया इसके लिये क्षमा करें। आपके प्रश्नका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) किसी भी प्राणी या पदार्थसे किसी भी मनुष्यका नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता; क्योंकि वह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, अज्ञानसे माना हुआ है, जिसका परिणाम अवश्यम्भावी घोर दुःख है। दूसरेकी तो कौन कहे, यह शरीर जिसको मनुष्य अपना-आप कहता है, इसका सम्बन्ध भी सदा नहीं रहता। वैसे तो घोर निद्राकालमें प्रतिदिन सभी प्राणियों और पदार्थोंका सम्बन्ध हर एक प्राणीको छोड़ना पड़ता है, बिना छोड़े कोई नहीं रह सकता; परंतु मनमें उसका सम्बन्ध मानकर वह ऊपरसे सम्बन्धका त्याग करता है, इस कारण जगते ही पुनः उस सम्बन्धकी स्मृति हो जाती है। पर इस रहस्यको समझकर ऊपरसे सम्बन्ध रहते हुए ही भीतरमें यह अनुभूति कर ले कि मेरा किसी भी प्राणी आदिसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न तो है और न हो सकता है; मेरा सम्बन्ध तो एकमात्र उस परम हितैषी परम सुहृद् प्रभुसे है जो सदैव मेरे साथ रहता है, कभी मेरा साथ नहीं छोड़ता; मैं उसे भूल जाता हूँ, तब भी जो मुझे नहीं भूलता। यह विश्वास होते ही उस परम दयालु प्रभुके सम्बन्धकी जागृति होकर जब उनसे प्रेम हो जाता है, तब इस जगत्‌का सम्बन्ध और प्रेम ईश्वर-प्रेममें बदल जाता है, वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, उसमें कभी किसी प्रकारकी कमी नहीं आती, जीवन रसमय बन जाता है, दुःख और विषादका नाम नहीं रहता। किसी कविने कहा भी है—

> जैसा हेत हरामसे वैसा हरिसे होय।
> चला जाय वैकुंठको पला न पकड़े कोय॥

अब आपके प्रश्नका उत्तर आप समझ गये होंगे। भाव यह है कि प्रेम कैसे करना चाहिये—यह तो प्रभुने कृपा करके हमलोगोंको सिखा ही दिया है; अतः उसे नश्वर शरीरमें न करके प्रभुसे कीजिये और उन्हींके नाते सबसे कीजिये। किसीसे भी सांसारिक सुख-भोगकी आशा करना प्रेम नहीं है। प्रेममें लेना नहीं रहता, देना-ही-देना रहता है। अतः जिसमें आपका प्रेम हो उसकी सेवा कीजिये, उसके अधिकारका

आदर कीजिये, उसे धर्मानुकूल सुख प्रदान कीजिये; पर बदलेमें उससे किसी प्रकारके सुखकी आशा मत रखिये । ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवान्‌में विशुद्ध प्रेम हो सकता है । फिर परम शान्ति अपने-आप प्राप्त हो सकती है ।

(२)

सप्रेम राम-राम । तुम्हारा पत्र मिला । × × × मनमें अशान्ति रहती है लिखा सो संसारमें तो अशान्ति ही है, शान्ति तो केवल एकमात्र भगवान्‌के भजनमें ही है । भगवान्‌का भजन श्रद्धा-प्रेम-विश्वासपूर्वक निष्काम भावके साथ करना चाहिये । इससे सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है । हमारे पास रहनेमात्रसे शान्ति मिल जाती हो, ऐसा हमें तो विश्वास नहीं है । हमसे मिलनेकी इच्छा लिखी सो तुम्हारा प्रेम है, परंतु भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा रखनी चाहिये जिससे उद्धार हो जाय ।

लोग व्यंग करते हैं लिखा सो व्यंग करनेवालोंका तो उपकार मानना चाहिये तथा उनको सहन करना चाहिये । किसीके कहनेमात्रसे कोई बड़ा-छोटा नहीं हो जाता । जिसका भगवान्‌में प्रेम है, वही वास्तवमें बड़ा है । जिम्मेदारीसे घबराना नहीं चाहिये । कर्तव्य-कर्मको तो भगवान्‌की सेवा एवं आज्ञा समझकर पूरी तत्परताके साथ करना चाहिये । फलकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । सबसे राम-राम ।

····से राम-राम । तुम्हारे लिखे हुए समाचार मालूम किये । तुमने जिस तरहकी स्थिति लिखी है वह सच्ची है या झूटी, यह हम कैसे बता सकते हैं ? यह तो भगवान् ही जानें; परंतु एक घड़ी भी चैन न पड़े, इस तरहकी व्याकुलता तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही होनी चाहिये ।

(३)

तुम्हारा पत्र यथासमय मिल गया था । भाई···· की दी हुई पुस्तक····को दे दी सो ठीक है ।

अपनेको जो बर्तन प्रभुकी कृपासे मिला है, उसीको प्रभु-प्रेमसे भरपूर रखना चाहिये; ताकि उसमें अन्य किसी सांसारिक संकल्प-विकल्पको स्थान ही न मिले । अनन्त तो अनन्त है ही । वह किसी सीमित बर्तनमें कैसे समा सकता है ।

भगवान्‌के प्रिय संतोंद्वारा भगवान्‌का प्रेम उसीको मिलता है जो शरीर और संसारसे ममता—आसक्ति न रखता हो और एकमात्र प्रभुपर ही अटल विश्वास रखता हो ।

हृदयका गद्गद होना या नेत्रोंसे अश्रुपात होना अच्छा है; परंतु यह प्रेमका बाह्य लक्षण है । इनके कारण यदि मनुष्यकी शरीर और अन्तःकरणमें ममता हो जाय, इस प्रकार प्रेम प्रकट होनेकी वह कामना करने लग जाय तो प्रेममें शिथिलता आ सकती है, प्रगति नहीं होती—यह रहस्यकी बात है ।

मुझसे मिलनेपर यदि सचमुच तुम्हारा प्रभुमें प्रेम बढ़ता है तो यह प्रभुकी ही कृपा है, इसमें मेरा कुछ नहीं है । यदि मुझमें ही ऐसी शक्ति होती तो मेरे पास रहनेवालोंका प्रभुमें प्रेम बढ़ता ।

भगवान्‌की कृपा किसीको ढीठ नहीं बनाती । कृपाकी उपेक्षा कर देना तो प्रमाद है, कृपाका अनादर है । जीत तो वैसे जन्म-जन्मान्तरसे उपेक्षाकी हो ही रही है, पर वास्तवमें यह जीत नहीं है, कल्याणमें बाधक है । उपेक्षा होती नहीं है, मनुष्य आसक्ति और प्रमादवश स्वयं करता है । होता तो वही है जो होना चाहिये । भगवान्‌के विधानमें गलती नहीं होती ।

विशुद्ध अनन्य प्रेम तभी होता है जब मनुष्य संसार या शरीरमें ममता-आसक्ति नहीं रखता; अतः ममता-आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। संसारमें ममता-आसक्ति रहते हुए भगवान्‌में अनन्य प्रेम नहीं हो सकता।

····बातचीत हुई, उसका विवरण लिखा सो···· का कहना अपनी भावनाके अनुसार ठीक हो सकता है। स्वामीजी महाराजने जो बात कही सो बहुत ठीक है पर भगवान्‌की कृपाका रहस्य बड़ा गहन है। वे जिस प्रकार किसीको अनुकूलता प्रदान करके कृपा करते हैं, उसी प्रकार प्रतिकूलतामें भी उनकी कृपा भरी रहती है। उनकी कृपाका लाभ मनुष्य बिना श्रद्धा और विश्वासके नहीं उठा सकता। यदि वे सभी जीवोंका उद्धार कर दें तो फिर साधन और साधकोंका कोई महत्त्व ही न रहे, सब व्यर्थ हो जाय एवं शास्त्र और संत-महात्माओंकी जरूरत न रहे।

मनुष्यको जो विचारशक्ति प्रभुने कृपा करके दी है, उसे स्वयं अपने सुधारमें लगानी चाहिये; भगवान्‌के कर्तव्यपर उसे लगाना या दूसरोंके दोष देखनेमें लगाना तो उस शक्तिका दुरुपयोग है। सबसे राम-राम!

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र ता० १८-५-५७ का लिखा यथासमय मिला। समाचार विदित हुए। समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ। आपने अपना परिचय लिखा, वह भी ज्ञात हुआ। उत्तर इस प्रकार है—

(१) आपके कुछ मित्र और परिवारके लोग जो यह कहते हैं कि 'ईश्वर है कहाँ ?' उनसे बड़े विनयके साथ निवेदन करना चाहिये कि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर न हो; आप मानें, चाहे न मानें ईश्वर तो आपमें भी है ही।

(२) वे जो यह कहते हैं कि क्या आजतक किसीने ईश्वरको प्राप्त किया है—इसका यही उत्तर देना चाहिये कि जिसने एकमात्र प्रभुपर विश्वास किया, उसने अवश्य ईश्वरको प्राप्त किया और आज भी कर सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(३) जो यह कहते हैं कि तुम्हें ईश्वरको नहीं मानना चाहिये, उनसे नम्रता और प्रेमके साथ कह देना चाहिये कि यह मैं नहीं कर सकता, क्षमा करें।

(४) उनका यह कहना वेसमझी है कि जो ईश्वर स्वयंकी रक्षा नहीं कर सकता, वह दूसरेकी क्या रक्षा कर सकता है; क्योंकि ईश्वर स्वयं तो सबके अंदर सदैव स्वभावसे ही सुरक्षित है उसकी रक्षाका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त सबकी रक्षा भी वही करता है, उसके सिवा कोई रक्षक है ही नहीं; क्योंकि सभी असमर्थ और पराधीन हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो न तो कोई रोगग्रस्त होता, न दुखी होता, न अभावग्रस्त होता और न मरता ही; क्योंकि कोई भी ऐसा नहीं चाहता, तथापि कोई भी अपने मनकी बात अधिकांशमें पूरी नहीं कर सकता।

(५) उन्होंने महम्मद गजनीकी बात कही, इसका भी तत्त्व वे नहीं समझे, उनको विचार करना चाहिये कि क्या इस्लामधर्म ईश्वरको नहीं मानता ? अवश्य मानता है, उसका नाम चाहे कुछ भी रक्खें। मन्दिरोंकी मूर्तियोंको तोड़नेसे ईश्वरका विनाश नहीं होता। मूर्तियाँ तो उपासकोंके द्वारा अपने हितके लिये निर्मित की हुई प्रतीक होती हैं। मन्दिर या मूर्तियाँ ही ईश्वर नहीं हैं, उनको तोड़नेसे ईश्वरका खण्ड नहीं हो सकता; क्योंकि वह सर्वथा निराकार, निर्विकार, सर्वाधार और सर्वव्यापी भी है।

(६) आपको अपने विश्वासमें जरा भी ढिलाई नहीं आने देनी चाहिये। ये सब परिस्थितियाँ तो

प्रभुकी कृपासे ही ईश्वर-विश्वासको दृढ़ करनेके लिये आती हैं। इनसे आपको भयभीत नहीं होना चाहिये, प्रभुके भरोसे निश्चिन्त रहना चाहिये।

(७) माता-पिताकी आज्ञा अवश्य माननी चाहिये। पर यदि वे कोई ऐसी आज्ञा दें, जिसका धर्मसे विरोध हो और जिसके पालनसे उनका भी अहित होता हो तो उसे न मानकर उनसे नम्रता और प्रेमके साथ क्षमा माँग लेनी चाहिये। इसपर भी वे कोई दण्ड दें तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये, पर मांस-भक्षण आदिकी आज्ञा मानना ठीक नहीं; क्योंकि मांस-भोजनमें प्राणियोंकी हिंसा होना अनिवार्य है, किसीका भी हित नहीं है।

(५)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका पत्र ता० २०-५-५७ का लिखा हुआ यथासमय मिला, समाचार ज्ञात हुए। पत्रका उत्तर देनेमें देर हुई, इसके लिये दुःख न करें, मुझे भी तो देर होती ही है।

आपने ग्रन्थोंका अध्ययन आरम्भ कर दिया सो अच्छी बात है। जो कुछ पढ़ें, उसके अनुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करें, इसीमें पढ़नेकी सार्थकता है।

नौकरीके टाइममें मालिकके हितकी ओर दृष्टि रखनी चाहिये, अपने कर्तव्य-पालनमें जान-बूझकर त्रुटि या आलस्य नहीं करना चाहिये। भूलसे गलती हो जाय, उसके लिये मालिकसे क्षमा माँग लेनी चाहिये और आगेके लिये सावधान हो जाना चाहिये। मालिकके इच्छानुसार सुचारुरूपसे काम करके वहाँ अपनी आवश्यकता पैदा कर देनी चाहिये और मालिकका विश्वासपात्र बनना चाहिये।

प्रभुका गुण-गान करना बहुत अच्छा है। सांसारिक वस्तुएँ जो मनको हर समय चञ्चल रखती हैं, उसका कारण उन वस्तुओंमें आसक्ति होनेके कारण सुखका अनुभव करना है। जबतक उनमें सुख प्रतीत होता रहेगा तबतक उनमें वैराग्य होना कठिन है।

क्रोध आनेका मूल कारण है—मनके विपरीत क्रिया होनेपर उसमें भगवान्‌के विधानको न समझना तथा अपने अधिकारका अभिमान और दूसरोंसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा रखना। अतः विपरीत क्रियाको भगवान्‌का विधान मानने एवं उपर्युक्त दोनों दोषोंका त्याग करनेसे क्रोध शान्त हो सकता है।

कर्मका फल वही भोगता है, जो कर्म करता है। मनुष्यका स्थूल शरीर नष्ट होनेके बाद भी सूक्ष्म और कारण शरीर रहते हैं। उनके साथ वह दूसरे शरीरमें जाता है और वहाँ जाकर अपने कर्मोंका फल भोगता है।

आत्मा और परमात्माका यथार्थ स्वरूप जान लेनेके बाद तो न कोई कर्ता रहता है और न भोक्ता ही, पर सुननेमात्रसे कर्ता-भोक्तापनका अभाव नहीं होता।

आत्माको कोई न मार सकता है, न जला सकता है, न काट ही सकता है—यह तो ठीक है, पर जो लोग आपसे यह कहते हैं कि 'संसारमें कुछ नहीं है, जो मन चाहे वही करो' उनसे पूछना चाहिये कि 'जो मन चाहे वह कौन करेगा? कौन खाता है, कौन पीता है, इस खाने-पीनेके सुखको कौन भोगता है एवं आराम कौन करता है? जो यह सब करता है, वही कर्मोंके फल भी भोगता है। यदि इसमें मनुष्य पराधीन नहीं होता तो कोई बीमार क्यों होता? असमर्थता क्यों स्वीकार करता? शक्तिहीन क्यों होता? अतः जो इस प्रकार बे-सिर-पैरकी बातें कहते हैं, वे बेसमझ हैं, उनकी बातोंका कोई मूल्य नहीं है। अतः उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। रास्ता तो यही ठीक है कि साधक ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुए ज्ञानका आदर अवश्य करे। दूसरोंके द्वारा अपने प्रति की गयी जिस बुराई-

पर वह दुखी होता है, वह बुराई दूसरोंके साथ कभी न करे। दूसरोंसे जो भलाई चाहता है, उसे दूसरोंके साथ करे। दूसरोंसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा न रक्खे। इसीपर चलना चाहिये।

भगवान्‌पर विश्वास करना बड़ा अच्छा है। प्रभुकी झाँकी नेत्रोंके सामने कभी न आनेपर भी जो उनको मानते रहना, उनकी आज्ञाके अनुसार जीवन बनाना, सबमें उनको व्यापक मानकर सबकी सेवा करना और सबका हित करना है, यही उनकी विश्वासपूर्वक सेवा है। भगवान्‌की कृपा सबपर सदैव है। जो अपनेपर जितनी मानता है, उतनी ही उसको प्रतीत होती है। उनको अपना मान लेनेपर सम्बन्धके साथ-साथ प्रेम अपने-आप उत्पन्न होता है। दूसरे सांसारिक पदार्थों तथा प्राणियोंको अपना मानना, उनमें आसक्त रहना ही भगवत्प्रेममें बाधक है। संसारसे सम्बन्ध न रहनेपर मनकी चञ्चलता अपने-आप मिट जाती है। नौकरी साधनमें रुकावट करनेमें कारण नहीं है। कारण है मनकी आसक्ति। चिन्ता करनेमें कोई लाभ नहीं है। कर्तव्य-पालनसे ही अभावकी पूर्ति हो सकती है, चिन्तासे नहीं।
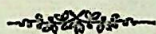
सेवाका स्वरूप

भगवान्‌का भक्त, जो भगवान्‌की सेवाको ही जीवन-का स्वरूप बना लेता है, निरन्तर भगवत्सुखार्थ भगवान्‌की सेवामें संलग्न रहता है। ऐसे सेवापरायण सेवकका कैसा भाव-स्वभाव होता है, भक्तराज प्रह्लादकी निम्न-लिखित पावन वाणीमें उसके दर्शन कीजिये। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान् श्रीनृसिंहदेवने भक्तराज प्रह्लाद-से जब वर माँगनेको कहा, तब प्रह्लादजी अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से कहते हैं—'भगवन्! मैं तो जन्मसे ही भोगासक्त हूँ, मुझे आप वरोंका प्रलोभन मत दीजिये। मैं तो भोगोंके संगसे डरकर उनके द्वारा होनेवाली तीव्र वेदनाका अनुभव कर उनसे छूटनेकी इच्छासे ही आपकी शरणमें आया हूँ। जगद्गुरो! आप मेरी परीक्षा ही करते होंगे, नहीं तो, दयामय! भोगोंमें फँसाने-वाले वरकी बात आप मुझसे कैसे कहते? परंतु प्रभो—

................................।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥

(श्रीमद्भागवत ७। १०। ४–६)

'जो सेवक स्वामीसे अपनी कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है, वह चाकर—सेवक नहीं है, वह तो लेन-देन करने-वाला बनिया है। जो स्वामीसे कामनापूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामना पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं। मैं कोई भी कामना न रखनेवाला आपका सेवक हूँ और आप मुझसे कुछ भी अपेक्षा न रखनेवाले स्वामी हैं। हमलोगोंका यह सम्बन्ध राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश रहनेवाला स्वामी-सेवकका सम्बन्ध नहीं है।'

ऐसा केवल सेवाव्रती सेवक किस प्रकारका त्यागी होता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कपिलदेवके रूप-में भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥
(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३-१४)

'मेरे वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य (भगवान्‌के धाममें नित्य निवास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्यप्राप्ति), सामीप्य (भगवान्‌की नित्य समीपता), सारूप्य (भगवान्‌के-से दिव्य रूप-सौन्दर्यकी प्राप्ति) और एकत्व (भगवान्‌के साथ मिल जाना—उनके साथ एक हो जाना या ब्रह्मरूपको प्राप्त होना)—इन पाँचों मुक्तियोंको ग्रहण नहीं करते। यह भक्तियोग ही साध्य है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको, दिव्य विशुद्ध भगवत्प्रेमको प्राप्त होता है।'

इन भगवान्‌की सेवा किनमें कैसे करनी चाहिये? अवश्य ही अपने इष्ट भगवान्‌के मङ्गलविग्रह स्वरूपकी (प्रतिमाकी) पूजा करना भी बड़ा श्रेयस्कर है, पर उतना ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् आगे चलकर कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः॥
(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । २१-२२)

'मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ, इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें मेरा पूजन करते हैं, वह पूजन विडम्बनामात्र है। मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी जीवोंमें स्थित हूँ; ऐसी स्थितिमें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही आहुति डालता है।'

इसीलिये चराचर प्राणीमात्रमें भगवान्‌को देखकर उनकी सेवा करनी चाहिये।

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'

यह भगवत्सेवा ही वास्तविक सेवा है। यही सबसे ऊँची प्रेमभृत्यता है। भगवान् इस प्रेमसेवाके दिव्य मधुर रसका आस्वादन करनेके लिये नित्य निष्काम तथा नित्य तृप्त होनेपर भी सकाम और अतृप्त हो जाते हैं। इसी दिव्य परम सेवाका उपदेश महात्माओंके पुण्य जीवनसे प्राप्त होता है।

रुचि-वैचित्र्य, तम-रज-सत्त्व गुण तथा मनुष्यकी मानस स्थितिके अनुसार सेवाके निकृष्ट-उत्कृष्ट बहुत-से रूप लोकमें प्रचलित हैं। जैसे—

सेवा करना नहीं, पर सेवक कहलाना, सेवकके रूपमें अपनेको व्यक्त करना। यह दम्भ, पाखण्ड और पाप है।

किसी बड़े स्वार्थसाधनके उद्देश्यसे ही या बड़ा बदला पानेके लिये ही किसीकी कुछ सेवा करना—जैसे अधिकारियोंकी सेवा, व्यक्तिगतरूपमें मन्त्रियों आदिकी सेवा, इसी लक्ष्यसे संस्थाओंको तथा राजनीतिक पार्टियोंको दान आदि देना, चुनावमें सहायता करना। चुनावमें जीतने या वोट पानेके लिये कहीं कुछ जन-सेवा करके उसका विज्ञापन करना आदि। यह वास्तवमें न सेवा है, न दान। यह एक प्रकारसे थोड़ी पूँजी लगाकर बड़ा नफा करनेका व्यवसाय या जुआ है।

अपनेको उपकार करनेवाला मानकर सेवाका अभिमान करके सेव्यको अपनेसे नीचा मानना, उसपर अहसान करना, उसके द्वारा कृतज्ञता तथा प्रत्युपकार प्राप्त करनेका अपनेको अधिकारी समझना और न मिलनेपर उसे कृतघ्न मानना यह भी शुद्ध सेवा नहीं है, व्यापार ही है।

सेव्यके सुख-हित या उसके मनके प्रतिकूल अपने

इच्छानुसार बर्ताव करके उसको सेवाके नामसे सेव्यपर लादना—यह भी सेवाकी विडम्बना ही है।

सेवा करनेकी शुद्ध इच्छासे अपनेको प्राप्त तन-मन-धनके द्वारा यथायोग्य सेव्यकी आवश्यकतानुसार सेवा करके प्रसन्नता या आत्मसंतोष प्राप्त करना—यह अच्छी सेवा है।

श्रद्धापूत हृदयसे सेव्यके सुख-हितके लिये अपनी इच्छाके विपरीत भी उसके मनोऽनुकूल सेवा करना तथा उसको सुखी देखकर परम सुखी होना—यह भी सराहनीय सेवा है।

अपनी प्राप्त वस्तुओंके द्वारा किसी अभावग्रस्तकी मूक सेवा करना, जिससे उसको यह पता भी न लगे कि यह सेवा कौन कर रहा है। कुछ वर्षों पूर्व एक अभावग्रस्त सम्भ्रान्त सज्जनने बताया था कि उनके पास घर-खर्चके लिये वर्षोंसे प्रतिमास विभिन्न नाम तथा स्थानोंसे अमुक रकम मनीआर्डरसे नियमित आती है, पर बहुत खोजनेपर भी भेजनेवालेका पता नहीं लगा। शबरीजी इसी भाँति छिपकर चोरीसे ऋषियोंके आश्रमोंमें प्रतिदिन झाड़ू लगाकर कुश-कण्टक दूर किया करती थीं। इसमें ख्यातिसे भय रहता है और सेवक कहलानेमें संकोच तथा लज्जाका बोध। यह श्रेष्ठ सेवा है।

जो सेवा सेवाके लिये ही होती है, सेवा किये बिना चैन नहीं पड़ता, रहा नहीं जाता, जो आत्मसंतोषके लिये ही सहजभावसे होती है, यह बहुत श्रेष्ठ सेवा है।

चराचर प्राणिमात्रमें एक आत्मा मानकर अपने आपकी सेवाकी भाँति आवश्यकतानुसार जो सब प्रकार-की सेवा होती है—यह श्रेष्ठ आत्मसेवा है। इसमें प्राणियोंके सुख-दुःखकी अपनेमें अनुभूति होती है। यह आत्म-तत्त्वज्ञानकी परिचायक उत्कृष्ट सेवा है।

जड-चेतन जीवमात्रमें भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन कर, भगवद्बुद्धिसे अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा उनकी यथायोग्य सहज उत्साह-उल्लासपूर्ण सेवा होती है। उसके प्रत्येक कार्यसे जगत् चराचरके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह सेवा उत्कृष्ट भगवत्पूजा है।

जिस सेवामें सेवकके अहंके सुख-कल्याणकी, स्वर्ग-मोक्षकी और दुःख-नरककी स्मृतिका ही सर्वथा अभाव रहता है; अपने प्रत्येक विचार, कर्म, पदार्थ आदिके द्वारा प्रियतमरूप भगवान्‌को सुख पहुँचाना ही जिसका अनन्य स्वभाव होता है, उसके द्वारा जो स्वाभाविक चेष्टा होती है, वह भुक्ति-मुक्तिको नगण्य मानकर उनके महान् त्यागके परम पवित्र अनन्य मधुर धरातलपर होने-के कारण—परम प्रेमरूप सर्वोत्कृष्ट परम सेवा है। इस सेवाकी कहीं तुलना नहीं है।

मनुष्यको सेवाका यही लक्ष्य सामने रखकर यथा-योग्य सेवाके पवित्र पथपर अग्रसर होते रहना चाहिये। ऐसी सेवा करनेवाले सेवकके पास आत्म-साक्षात्कार—कैवल्य मोक्षरूप सिद्धि तो स्वयमेव आती है और उसे स्वीकार करनेके लिये अनुनय-विनय करती है, उसे नित्य-मुक्तस्वरूप भगवान्‌को वशमें करके उन्हें निरन्तर बाँध रखनेवाला प्रेम प्राप्त होता है, जो मानव-जीवनके लिये साधन तथा साध्य दोनों है। निष्काम-कर्मरूप सेवा, भक्ति-साधनरूप सेवा, आत्मज्ञानरूप सेवाके साथ ही इस परम प्रेमरूप सेवाका आदर्श ग्रहण करके जीवनको धन्य बनाना चाहिये।

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'
.................................।

काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ रामपद पंकज नेहा॥

गांधी-शताब्दीके प्रसङ्गपर गांधीजीकी दिव्य वाणी

आधुनिक सभ्यता अनिष्टकारी है

मैंने आधुनिक सभ्यताकी घोर निन्दा करनेका साहस किया है; क्योंकि मेरी मान्यता है कि इसका प्रेरक तत्त्व अनिष्टकारी है। यह सिद्ध करना सम्भव है कि इसके कुछ परिणाम अच्छे हैं। लेकिन मैंने इसकी प्रवृत्तिको आचार-नीतिके पैमानेसे जाँचा है। मैं आधुनिक सभ्यताके सामान्य आदर्शों और उन व्यक्तियोंके आदर्शोंमें भेद करता हूँ जो अपने वातावरणसे ऊपर उठ चुके हैं। इस प्रकार मैं ईसाइयत और आधुनिक सभ्यताके बीच भेद करता हूँ। आधुनिक सभ्यताका कार्यक्षेत्र यूरोपतक ही सीमित नहीं है। इसका विनाशक प्रभाव आज जापानमें पूरी तरह प्रदर्शित हो रहा है और अब इसके भारतपर आनेका खतरा पैदा हो गया है। इतिहास हमें सिखाता है कि जो लोग इस (आधुनिक सभ्यता)के भँवर-जालमें फँस गये हैं, उन्हें तो अपने भविष्यकी राह उसीमें बनानी पड़ेगी। परंतु मेरा निवेदन यह अवश्य है कि जो लोग अब भी इसके प्रभावसे बाहर हैं और जिनके पास अपने मार्गदर्शनके लिये एक सुपरीक्षित सभ्यता है, उनको अपनी नींवपर खड़े रहनेमें सहायता दी जानी चाहिये। इसीमें दूरदर्शिता है। मेरा दावा है कि मैंने आधुनिक सभ्यताके जीवन और प्राचीन सभ्यताके जीवन—दोनोंको जाँचा है। और मैं इस विचारका अत्यन्त दृढ़ताके साथ विरोध किये बगैर नहीं रह सकता कि भारतवासियोंको जगानेके लिये उन्हें प्रतिस्पर्धाके कोड़े मारने और अन्य भौतिक और वासनात्मक तथा बौद्धिक उत्तेजना देनेकी आवश्यकता है। मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि उनसे भारतीयोंकी नैतिक ऊँचाई एक इंच भी बढ़ सकेगी। ('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ६४४-६४५)

आधुनिक सभ्यता बनाम प्राचीन सभ्यता

आधुनिक सभ्यता हमें भौतिक दृष्टिकोण देती है और हमारे विचारोंको शरीर और शरीर-सुखके साधनोंपर केन्द्रित करती है। हर्बर्ट स्पेन्सरने संक्षेपमें आधुनिक मनुष्यके बारेमें कहा है कि 'उसका जीवन जटिल होता है जब कि असभ्यताका जीवन बिल्कुल सीधा-सादा होता है।'

इस प्रश्नपर अपने १८ वर्षके अध्ययनके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि (आधुनिक सभ्यताके कारण) हालत सुधरनेके बजाय बिगड़ी ही है। (तालियाँ) मैंने देखा है कि सादा जीवन जटिल जीवनसे अच्छा होता है; क्योंकि उसमें ऊँची प्रवृत्तियोंके लिये समय मिल जाता है। प्राचीन सभ्यतामें भाग-दौड़ थी ही नहीं। लोग आज इहलोककी चिन्ता करते हैं; उन दिनों वे परलोककी चिन्ता करते थे। वे अपना ध्यान शरीरपर नहीं, आत्मापर केन्द्रित करते थे। वे शरीरको आत्मासे बिल्कुल पृथक् मानते थे। उनके लिये भोग-विलास ही सब कुछ नहीं होता था और वह जीवनका चरम लक्ष्य भी नहीं था। अब शैतानकी सेवा की जाती है, तब ईश्वरकी सेवा की जाती थी। यदि मैं यह न मानूँ कि आत्मा नित्य है और यदि मुझे हम-सबमें एक ही आत्माके दर्शन न हों तो मैं इस संसारमें रहना ही पसंद न करूँ। मैं मर जाना चाहूँगा। शरीर तो आत्माके नियन्त्रणमें चलनेवाला रथमात्र है। वह बिल्कुल हेय और अपावन—मिट्टीका पुतला है।

प्राचीन सभ्यतामें हमारा ध्यान जीवनकी ऊँची प्रवृत्तियों, ईश्वरके प्रति प्रेम, पड़ोसियोंके प्रति शिष्टता और आत्माके अस्तित्वकी अनुभूतिपर जाता है।

जीवनमें फिरसे इन गुणोंका जितना समावेश हो उतना ही अच्छा होगा ।

('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ६४५-६४६)

सच्ची सभ्यताका आदर्श

सच्ची सभ्यता आधुनिक सभ्यतासे अच्छी थी । आधुनिक सभ्यता तो स्वार्थसे भरी, ईश्वरको भुलानेवाली और दम्भपूर्ण है । इसमें मनुष्य मुख्यतः शरीरके लिये ही उद्योग करता है । सच्ची सभ्यतामें मनुष्य दयावान्, ईश्वरपरायण और सरल होता था । वह शरीरको आत्मिक उन्नतिका साधन मानता था । इस प्राचीन सभ्यताको पुनः ग्रहण करना आवश्यक है । इसके लिये मनुष्यको सादगी ग्रहण करनी चाहिये और गाँवका जीवन पसंद करना चाहिये ।

('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ६४६)

भारतीय सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है

यूरोपमें चारों ओर जो अशान्ति फैली है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सभ्यता अशिव और अन्धकारमय शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करती है, जब कि प्राचीन यानी भारतीय सभ्यता मूलतः दैवी शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करती है । आधुनिक सभ्यता मुख्यरूपमें भौतिकवादी है, जब कि हमारी सभ्यता प्रधानरूपसे आध्यात्मिक है । आधुनिक सभ्यता भौतिक नियमोंकी खोजमें लगी हुई है और मानवीय प्रतिभाको उत्पादन और विनाशके साधनोंकी खोजमें जुटाये हुए है और हमारी सभ्यता मुख्यरूपसे आध्यात्मिक नियमोंकी खोजमें लगी हुई है । हमारे शास्त्रोंमें स्पष्टतः यह कहा गया है कि सत्य-जीवनके लिये सत्यका ठीक-ठीक पालन, पवित्र आचरण, प्रत्येक जीवके प्रति अहिंसाकी भावना, किसी औरके धनकी इच्छा न रखना और दैनिक जीवनके लिये जो आवश्यक है केवल उसीका संचय नितान्त आवश्यक बातें हैं । उन्होंने यह भी कहा है कि इन बातोंके बिना आत्म-तत्त्वका ज्ञान असम्भव है । हमारी सभ्यताने दृढ़तापूर्वक यह कहनेका साहस किया है कि अहिंसाका समुचित और सम्पूर्ण विकास सारे संसारको हमारे चरणोंमें लाकर डाल देता है । सक्रियरूपसे अहिंसाका अर्थ है—पवित्रतम प्रेम और करुणा । इस वचनका उच्चारण करनेवाले महापुरुषने अनन्त उदाहरण देकर इसे प्रमाणित कर दिया है ।

('शिक्षण और संस्कृति,' पृष्ठ ६५१)

राष्ट्रीय पहनावा

पाश्चात्य सभ्यताकी छोटी-छोटी सुख-सुविधाओंसे परिचित न होनेके कारण मैंने अपनी राष्ट्रीय पोशाकका आदर करना सीखा है ।............मैं राष्ट्रीय पोशाक इसलिये पहनता हूँ कि मैं समझता हूँ कि यह एक भारतीयके लिये अत्यन्त स्वाभाविक और शोभनीय पोशाक है । मेरा विश्वास है कि यूरोपीय पोशाककी नकल करना हमारे पतन, अपमान और दुर्बलताका चिह्न है और हम अपनी इस राष्ट्रीय पोशाकको छोड़कर राष्ट्रीय पाप कर रहे हैं, जो भारतीय जलवायुके लिये उपयुक्त है, जिसकी सादगी, कला और सस्तेपनमें पृथ्वीभरकी कोई पोशाक मुकाबला नहीं कर सकती एवं जो स्वास्थ्य और सफाईकी दृष्टिसे निर्दोष है । यदि अंग्रेजोंमें मिथ्याभिमान और गौरवके झूठे भाव न होते तो यहाँ रहनेवाले अंग्रेज भारतीय पोशाकको बहुत पहले ही पहनने लग जाते ।

('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ६५२)

यूरोपीय सभ्यता आसुरी है

मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज यूरोप ईश्वर अथवा ईसा-धर्मका नहीं, बल्कि शैतानकी आत्माका प्रतिनिधित्व करता है । शैतान उस समय अपनी सफलताओंकी चरम सीमापर होता है जब कि उसकी जिह्वापर ईश्वरका नाम होता है । आज यूरोप नाम-

धनके लिये ईसाई है। वास्तवमें वह लक्ष्मीका उपासक है। जीसस क्राइस्टने ठीक ही कहा है कि 'एक सुईके छिद्रसे ऊँटका निकल जाना तो आसान है, किंतु एक धनीका ईश्वरके साम्राज्यमें प्रवेश करना कठिन है।' उनके तथाकथित अनुयायी अपनी नैतिक उन्नतिका माप अपनी भ तक सम्पन्नतासे करते हैं। इंगलैंडका राष्ट्रीय गीत ह ईसाई-धर्म-विरोधी है। हजरत ईसा, जिन्होंने अपने अनुयायियोंको अपने समान अपने वैरियोंसे प्रेम करनेकी शिक्षा दी थी, अपने वैरियोंके सम्बन्धमें यह नहीं कह सकते थे कि मेरे वैरियोंको परेशान करो और उनको आसुरी उपायोंसे विफल कर दो। डा० वालेसने अपनी अन्तिम पुस्तकमें अपना यह दृढ मत व्यक्त किया है कि बहुचर्चित विज्ञानकी उन्नतिने यूरोपके नैतिक स्तरको एक इंच भी ऊँचा नहीं उठाया है। अन्य घटनाओंकी अपेक्षा पिछले युद्धने तो सभ्यताकी उस आसुरी वृत्तिको अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि जो आज यूरोपपर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। विजेताओंने भलाई करनेके बहाने सार्वजनिक नैतिकताके प्रत्येक नियमको भंग किया है। हर तरहका झूठ बोलनेमें कोई बुराई नहीं समझी गयी है। प्रत्येक अपराधके धार्मिक अथवा आध्यात्मिक उद्देश्य न होकर स्थूल-रूपसे भौतिक उद्देश्य ही रहा है। लेकिन जो मुसलमान और हिंदू अंग्रेजी सरकारके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं, उनका उद्देश्य धर्म और सम्मानपर आधारित है। ('शिक्षण और संस्कृति', पृष्ठ ६५६)

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१–भागवत-जगत् और भोग-जगत्—दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। भागवत-जगत्में जहाँ नित्य सच्चिदानन्दमयता, पूर्णता, नित्यता, एकरूपता, अमरता एवं अपरिवर्तनशीलता हैं, वहाँ भोग-जगत्में दुःखमयता अपूर्णता, अनित्यता, विभिन्नता, विनाश एवं परिवर्तन हैं। जितना भी प्रकृतिका विस्तार है, वह सब भोग-जगत् है और इसी कारण उसमें अपूर्णता, अनित्यता, दुःखमयता, अरसता आदि स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होती हैं। जहाँतक जीवकी गति प्रकृतिके राज्यमें है, वहाँतक उसका सम्पर्क भोगराज्यतक ही रहता है और इसीसे भोगराज्यके स्वाभाविक परिणाम—दुःख, अशान्ति आदिसे वह घिरा रहता है।

२–जो प्रकृतिके राज्यमें है उसको कामना, भय एवं विषाद—ये तीन विकार सदा बने रहेंगे, फिर चाहे वह कितना ही बड़ा तथा किसी भी स्थितिमें क्यों न हो।

३–भगवान्के साथ चित्तको जोड़कर कर्म करना और कामनासे प्रेरित होकर कर्म करना—दो वस्तुएँ हैं। जो सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रख सकता है, समझना चाहिये कि वह कामनासे प्रेरित होकर कर्म नहीं कर रहा है। जो कामनासे प्रेरित होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसे सिद्धि-असिद्धिमें अनुकूलता-प्रतिकूलताका भान और फलतः राग-द्वेष होगा ही।

४–जगत् द्वन्द्वात्मक है। साधक द्वन्द्वोंसे छूटना चाहता है। सिद्धिमें द्वन्द्वोंकी सत्ता ही नहीं रहती।

५–कष्टमें भगवान्की कृपाकी अनुभूति होनी चाहिये। जिसे कष्ट कहा जाता है, वह कष्ट नहीं है, उसमें तो कष्ट कट रहा है।

६–जिस प्रकार रोगसे मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति रोगवृद्धिकी प्रत्येक परिस्थिति, खान-पान, चेष्टा-क्रियाका त्याग करता है, जैसे धनका लोभी व्यक्ति धनकी हानिवाले प्रत्येक कार्यसे स्वाभाविक बचता है,

वैसे ही भजनके विरोधी क्रिया, विचार, संगका परित्याग करना पड़ता है—भजन-साधन करनेवाले व्यक्तिको।

७–जितना हमारा जीवन शेष है, वह जीवन यदि हम भगवान्‌को समर्पण कर दें और भगवान्‌से कह दें—'नाथ! हमने आजतक पाप-ही-पाप किये, हमारे मनकी ऐसी बुरी स्थिति है कि हम बुराईसे बच नहीं सकते, पर आपके सिवा हमें कोई बचानेवाला भी नहीं; हम आपके चरणोंमें आ गिरे हैं; आपके सिवा कोई दूसरा है ही नहीं जो हम-जैसोंको स्थान दे'—तो भगवान् उसी क्षण हमें अपना लेते हैं और कहते हैं—'तुम पिछले जीवनके लिये चिन्ता न करो। तुम आ गये न वहाँ, जहाँ तुम्हें आना चाहिये था, जहाँपर कोई पापी रहता नहीं।'

८–जो भगवान्‌के शरणापन्न हो जाता है, भगवान् उसके पूर्वके पापोंके नाशका जिम्मा ले लेते हैं तथा आगे उसे क्या करना है, कैसे करना है, इसका जिम्मा भी वे ले लेते हैं। भगवान् कहते हैं—'हम तुम्हारे पूर्वके पापोंसे तुम्हें सर्वथा मुक्त करा देंगे तथा जब तुम हमारे हो गये तो तुम्हें जो मिलना चाहिये, वह हम ला देंगे और तुम्हारे पास जो रहना चाहिये उसकी रक्षा हम करेंगे। लोकमें, परमार्थमें तुम्हें जो चाहिये, उसका जिम्मा हम ले लेते हैं। हमारी घोषणा है **'सर्वपापेभ्यः अहं मोक्षयिष्यामि।'** 'मैं सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।' **'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'** 'मैं स्वयं योगक्षेमका वहन करता हूँ।'

९–जब पूर्वके पापोंके नाश तथा आगेकी सारी व्यवस्था—इन दो बातोंकी जिम्मेदारी भगवान् ले लेते हैं, तब हमें भयभीत, निराश, हताश, चिन्तित क्यों होना चाहिये?

१०–साधकको चाहिये कि भगवान्‌के सामने अपनेको सदा दीन माने, अभिमान न करे, पर साथ ही भगवान्‌की कृपाके बलसे अपनेको बलवान् माने। अपनेमें कोई बल नहीं, पर भगवान्‌की कृपाका सब बल हमारे साथ है। संसारके पाप-ताप तभीतक आते हैं, जबतक हम भगवान्‌के नहीं हो जाते। जब हम भगवान्‌के हो जाते हैं—हम उनके बलसे अपनेको बलवान् मानते हैं, तब पाप-ताप अपने-आप नष्ट हो जाते हैं हमारे लिये।

११–भगवान्‌का बन्धन ऐसा है कि वह जगत्‌के बन्धनको रहने नहीं देता। रात्रि और सूर्य—एक साथ नहीं रह सकते। भगवान्‌का प्रेम और भोगोंका प्रेम एक साथ नहीं रह सकते।

१२–भगवान् यह नहीं पूछते कि हम अच्छे हैं या बुरे? वे केवल पूछते हैं—'तुम हमारी शरणमें रहना चाहते हो कि नहीं। यदि रहना चाहते हो तो रहो, शेष सब कुछ हम कर देंगे।'

१३–संसारकी वस्तुओंको प्राप्त करनेमें जो देर होती है, उसका कारण है हमारा प्रारब्ध, पर भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होता है—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छाकी तीव्रता एवं अनन्यताकी कमीके कारण।

१४–सांसारिक भोगोंकी आशा हमें तभीतक होती है जबतक 'भोगोंमें सुख है'—इसपर हमारी भ्रान्त आस्था बनी है।

१५–मनुष्य जीवनभर अशान्त क्यों रहता है? उसका चित्त भटकता क्यों रहता है? इसका कारण है—वह कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त है। वह आसक्त क्यों है? मोहके जालसे उसका विवेक ढँका हुआ है। मोह क्या है? 'भोगोंमें सुख है'—यह वहम। केवल पदार्थोंका नाम ही भोग नहीं, अनुकूल परिस्थितियाँ भी भोग हैं।

१६–'भोगोंमें सुख है'—यह वहम भोगोंके ऊपरी भागसे नहीं मिटता। भोग केवल किसी

बाहरी वस्तुका नाम नहीं है। हमारा यश हो, हमारा नाम अमर रहे, लोग हमारी बड़ाई करें—ऐसी कामना भी भोग है।

१७—हमारा चिन्तन कैसा है, यही हमारे जीवनकी कसौटी है। अतएव हमारा मन विषय-चिन्तन-परायण कितना रहता है, भगवच्चिन्तन-परायण कितना ?—इसका हिसाब रखना चाहिये। प्रतिदिन ही नहीं, दिनमें जितनी बार हो जाय, उतनी बार हिसाब किया जाय इस बातका और विषय-चिन्तनके स्थानपर भगवच्चिन्तनको बढ़ाना चाहिये।

१८—भगवच्चिन्तनके प्रति अनन्यता हो जाय तो सर्वोत्तम है ही, पर जबतक यह न हो तबतक इसकी प्रमुखता, बहुलता तो जीवनमें आ ही जानी चाहिये।

१९—साधनामें आसक्ति हो जानी चाहिये। आसक्ति हो जानेपर उसमें जितनी प्रगति होगी, वृद्धि होगी, उतनी ही प्रसन्नताका अनुभव होगा।

२०—साधनामें—भगवच्चिन्तनमें कभी संतोष न हो, उसकी भूख बराबर बढ़ती चले। जब साधनकी, भगवच्चिन्तनकी भूख कम हो जाय या सर्वथा लुप्त हो जाय तो समझना चाहिये कि हमारे अभाग्यका उदय हुआ है।

२१—दूसरे क्या करते हैं, दूसरे हमारे लिये क्या कहते हैं—इसकी चिन्ता, आशा, आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। दुनियाकी ओर बिना देखे निरन्तर ऊपर उठता चले। आत्माको कभी गिराये नहीं।

२२—भोगासक्त व्यक्तिके लिये चार चीजें अनिवार्य हैं—चित्त भटकेगा, जीवनभर चिन्ता रहेगी, पाप होंगे तथा मरनेपर नरककी प्राप्ति होगी।

२३—परिणाममें जिसका फल अच्छा हो, जो कल्याणकारक हो, सुखदायक हो, वह चाहे करनेमें कठिन भी हो, उसे करना चाहिये। ऋषिगण इसी हेतुसे तप करते थे। तपका अर्थ है—जिसमें तपना पड़े अर्थात् शरीर-मन-इन्द्रियोंको कार्यकी सफलताके लिये भलीभाँति लगनसे परिश्रम करना पड़े, जिससे उन्हें तापका अनुभव हो।

२४—जरासे बुरे संगसे बहुत बड़ा बुरा परिणाम हो सकता है। अतएव दुःसंगका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

२५—संसारके अभावोंसे ग्रस्त रहे तो कोई हानि नहीं है, यदि जीवन पवित्र बना रहे; पर यदि संसारके सुख-भोगोंसे घिरे रहनेपर जीवन पापमय हो जाय तो उससे बढ़कर हानि और क्या होगी ?

२६—यदि भगवान्का स्मरण हो रहा है तो हम सब प्रकारसे भाग्यवान् हैं। यदि भगवान्का स्मरण नहीं हो रहा है तो हमसे अभागा और कौन होगा ?

२७—भोगियोंको देखकर कभी मनमें यह वृत्ति नहीं आनी चाहिये कि ये बड़े व्यक्ति हैं, हमें भी ऐसा बनना चाहिये। इसके विपरीत जो साधना-सम्पन्न हैं, उन्हें देखकर उनके-जैसा बननेकी वृत्ति जाग्रत होनी चाहिये।

२८—अभिमान बहुत बुरा है; पर उससे भी बुरा है अपनेमें अभिमान न होनेका अभिमान।

२९—संसारका दुःख क्या है ? अभावकी अनुभूति। पर संसारकी प्रत्येक वस्तु अभावमयी है, अतएव उसका कभी भाव (नित्य स्थिति) नहीं हो सकता।

३०—जितनी संसारकी अधिक स्मृति होगी, उतना ही दुःख बढ़ेगा और जितनी भगवान्की स्मृति होगी, उतना ही सुख बढ़ेगा।

३१—भगवान् सच्चिदानन्दमय हैं। अतएव भगवान्को जितना हम अपने अन्तरमें भरेंगे, उतना ही वास्तविक आनन्द हमें प्राप्त होगा।

३२—जगत्‌में प्राप्त होनेवाले द्वन्द्वात्मक सुख सुख नहीं हैं। वे तो वस्तुतः दुःखरूप ही हैं।

३३—बुद्धिका विपरीत हो जाना सबसे भयानक है। मनुष्य जब बुराईमें लगा रहनेपर अपने-आपको गौरवशाली मानता है, बुद्धिमान् अनुभव करता है, तब समझना चाहिये कि उसका सबसे बड़ा पतन हो गया है।

३४—मूर्खता क्या है? भोगोंमें रचा-पचा रहना ही मूर्खता है, बुद्धिका कम होना वास्तविक मूर्खता नहीं है।

३५—भोगोंमें जाते हुए मनको, इन्द्रियोंको समझा-बुझाकर, जबर्दस्ती अथवा दण्डित करके भी रोकना चाहिये; क्योंकि इसका परिणाम भयानक है।

३६—खुली चोरी करनेवाले सभ्यताकी चोरी करनेवालोंसे अच्छे हैं, अपठित मूर्ख पढ़े-लिखे मूर्खोंकी अपेक्षा अच्छा है; क्योंकि सभ्यताकी चोरी करनेवाले तथा पढ़े-लिखे मूर्ख अपने लिये तथा समाजके लिये जितने घातक हैं, उतने खुली चोरी करनेवाले तथा अपठित मूर्ख नहीं हैं।

३७—संसारके भोगोंमें सुख अनुभवकर सुखस्वरूप भगवान्‌का प्रयोग भोगोंकी प्राप्ति, संरक्षण एवं संवर्धनमें करना मूर्खता है। दयामय भगवान् हमारी ऐसी चेष्टासे नाराज नहीं होते, पर हँसते हैं।

३८—मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भोग है ही नहीं। उसका उद्देश्य है—'भगवत्प्राप्ति'। मनुष्यको संसारमें जीना है, रहना है, इसलिये 'अर्थ' और 'काम'की भी आवश्यकता है, पर 'अर्थ' और 'काम' 'धर्म'के द्वारा नियन्त्रित होकर रहें और उनका लक्ष्य होना चाहिये 'मोक्ष'—भगवत्प्राप्ति।

३९—भोगपरायण मानव-जीवनकी अपेक्षा पशु-जीवन श्रेष्ठ है; क्योंकि पशु नवीन कर्म करके नवीन पापका संचय नहीं कर सकता। पर यदि मनुष्य केवल भोगपरायण हो जाय—वह उल्टा चले तो वह बड़े-से-बड़े पापोंका सृजन एवं संग्रह कर सकता है। भोग-परायण मनुष्य भोगकामनाके वशमें होकर रात-दिन पापका चिन्तन करता है और उसीमें रचा-पचा रहता है।

४०—परोपकार, परसेवा तभी होती है जब हम वास्तविक सेवा करने योग्य सामग्री अपने अंदर पैदा कर लेते हैं। जबतक हमारे अंदर कामना, हिंसा, कलह, असंतोष, अशान्ति आदि भरे हैं, तबतक हम जगत्‌को क्या देंगे? इन्हीं दोषोंको जगत्‌में बाँटेंगे—सेवा और परोपकारके नामपर।

४१—जबतक हमारे मनमें द्वेष, कलह, जलन, दुःख तथा एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी स्पृहा है, भोग प्राप्त करके सुखी होनेका मनोरथ है, तबतक हम जगत्‌को क्या देंगे? वितरण उसीका होता है, जो अन्तरमें भरा है। हमने जगत्‌का सुधार करनेमें अपना जीवन लगाया, समय लगाया, धन लगाया—पर सब कुछ लगाकर हमने वितरण क्या किया? वही जो हमारे अन्तरमें भरा है और इस प्रकार हमने जगत्‌में 'सत्'को न फैलाकर 'असत्'का ही विस्तार किया।

४२—निकम्मा बैठना साधकके लिये बहुत घातक है। खाली मन अंदर भरे हुए जो अच्छे-बुरे संस्कार हैं, उन्हें उधेड़ता है; क्योंकि मन कभी निकम्मा नहीं रहता। अतएव मनको सदा शुभमें लगाना चाहिये।

४३—मनुष्यको सबसे पहले अपनेको ठीक करना है। फिर बिना सेवा किये ही हम जगत्‌की वास्तविक सेवा करते हैं; क्योंकि हमारे अन्तरमें जो सद्‌गुण, सद्विचार होंगे; वे स्वतः बाहर फैलकर जगत्‌के प्राणियोंके अन्तःकरणपर प्रभाव डालेंगे और उन्हें सत्‌की ओर प्रेरित करेंगें।

४४—मनको शुभमें लगाये रखनेके लिये आवश्यक

है कुछ शुभ नियम बनाकर उनका दृढ़तासे पालन करना। बहुधा मन धोखा देता है। विषयोंमें रचा-पचा मन बहुत बार बुद्धिसे कहता है 'तुम इतना नहीं कर सकती, तुम इतना करनेमें असमर्थ हो।' बुद्धि मनके बहकावेमें आ जाती है। वह मनके धोखेको स्वीकार कर लेती है और अपने बलको भूल जाती है तथा मनुष्य नियमोंको छोड़ देता है। इसीलिये नियम-पालनमें दृढ़ताकी आवश्यकता है। इसके लिये आवश्यक है कि बुद्धिको मनके आश्रित न करके भगवान्‌के आश्रित कर दें।

४५—मनुष्यको अपने लिये एवं दूसरोंके लिये भोग-सुखकी आकांक्षा न करके चरित्र-शुद्धिकी आकांक्षा करनी चाहिये; क्योंकि चरित्रकी शुद्धिसे ही वास्तविक सुखकी प्राप्ति एवं विस्तार सम्भव है।

४६—लौकिक हानि हानि नहीं है, आध्यात्मिक हानि ही वास्तविक हानि है। अतएव अपने शेष जीवनको भोगोंमें, प्रमादमें न लगाकर भगवान्‌में लगावें, बस यही करना है।

× × ×

श्रीकृष्ण-बलरामकी मधुर शिशुलीला

अज्ञातवाचं शुकवत् पठन्तं
विशेषपृच्छाकृततर्जनीकम् ।
धात्रीजनाध्यापितवाक्प्रचारं
व्रजस्य भाग्यं परितः स्मरामि ॥

जो तोतेकी भाँति अज्ञात वाक्य बोलते थे, विशेष प्रश्न करनेपर जो तर्जनी अँगुलीद्वारा निर्देश करते हुए चतुरता प्रकाश करते थे, एवं धात्रीगण जिनको समस्त वाक्य बोलना सिखाती हैं, मैं व्रजके भाग्य अर्थात् फलस्वरूप उन श्रीकृष्णको सर्वभावसे स्मरण करता हूँ।

नामग्राहं तदा प्राह रामः कृष्णं शनैः शनैः ।
कृष्णो राममथार्येति मातृणां परिशिक्षया ॥

'फिर माताओंकी विशेष शिक्षासे श्रीबलराम धीरे-धीरे नाम लेकर श्रीकृष्णको बुलाते एवं श्रीकृष्ण भी कोमल मधुर स्वरसे ज्येष्ठ श्रीबलरामको आर्य (दादा) कहकर बुलाते।

तदा च,—

पृच्छन्त्या वृद्धयाङ्गानि यदा किमपि पृच्छ्यते ।
तदाम्बाशिक्षया बालः स तां मुहुरताडयत् ॥

और श्रीकृष्णके हाथ-पाँवादि अङ्गोंके ज्ञान करानेकी इच्छासे कोई वृद्धा गोपी जब किसी अङ्गकी जिज्ञासा करती अर्थात् तुम्हारे हाथ कहाँ हैं? नेत्र कौन-से हैं? तुम्हारा मुख कौन-सा है? तुम्हारी नाक कौन-सी है? इत्यादि—ऐसा पूछनेपर माताके शिक्षानुसार बाल-कृष्ण उसी-उसी अङ्गको दिखाते और उन्हें व्यस्त किये रहते।

अथ भ्रातृद्वयमपि मिथः किञ्चिद्वदति स्म; यथा—

आगच्छ खेलां गच्छाव माता कोपं करिष्यति ।
न कुर्यादिति तौ बालौ कृष्णरामौ समूचतुः ॥

फिर दोनों भ्राता एक-दूसरेके साथ कुछ-कुछ वाक्य बोलने लगे। एक कहता—'आओ हम दोनों खेलने चलें।' दूसरा कहता—'माता गुस्सा होंगी।' फिर एक भ्राता कहता 'माता गुस्सा नहीं करेगी।' इस प्रकार श्रीराम और श्रीकृष्ण परस्पर वाद-विवाद करते।

अथ बाल्यचापल्यं चावकल्यताम्—

दंष्ट्रां धित्सति दंष्ट्रिणः फणिपते-
रुद्यत्फणां शृङ्गिणः
शृङ्गं प्रज्वलदर्चिषं हुतभुजः
कोटिञ्च खड्गादिनः ।

इत्थं भ्रातृयुगं निवर्त्तितमपि
　　प्रागल्भ्यमेवासद-
न्मात्रोस्तेन समस्तविस्मृतिरभूद्
　　गेहेऽपि देहेऽपि च ॥

अब बाल्य-चापल्यका श्रवण करो—दोनों भ्राता भयकारी दन्तधारी जन्तुओंके दाँतोंको, साँपके उठे हुए फणोंको, सींगधारी पशुओंके सींगोंको, जलती हुई आगकी शिखाको और तलवार आदि शस्त्रोंकी धारको पकड़नेकी इच्छा करते । उन-उन अनिष्टकारी कामोंसे जननीद्वयके रोकनेपर भी दोनों भ्राता चपलता करते । अहा ! उस चपलतामें श्रीयशोदा एवं श्रीरोहिणी सब कुछ भूल जातीं; यहाँतक कि उन्हें अपने घर एवं शरीरकी सुध-बुध न रहती ।

दूरमश्च न हि चञ्चल स्फुटं
　　तत्र कोऽपि वरिवर्त्ति भीषणः ।
एवमेव जननीगिरा पुन-
　　स्तत्कृते कुतुकितां दधे शिशुः ॥

माताने कहा—'अरे चञ्चल ! दूर मत जाना । वहाँ भयानक जन्तु (हौआ) बैठा है ।' माताके इस प्रकार कहनेपर फिर-फिर उधर ही जानेके लिये श्रीकृष्ण कौतुक करते ।

शिशुना भीष्मग्रहणे स्थाने
　　मातुर्भयं यतो माता ।
कवयस्त्विदमनुमियते
　　तेजस्वित्वस्य बीजं तत् ॥११७॥

बालक जब किसी भयानक वस्तुको पकड़ता है, तो माताको भय होना स्वाभाविक किंवा उपयुक्त होता है; क्योंकि वह माता है न । किंतु पण्डितगण ऐसा अनुमान किया करते हैं कि ऐसी भयंकर वस्तुओंके पकड़नेमें बालकोंकी तेजस्विता ही मूल कारण होती है ।

यं यं पदार्थमतितीव्रमियं प्रयाति
　　भ्रातृद्वयी स च स च प्रतिभाति सौम्यः ।
अत्रानुमानविदुरा निरनैपुरेत-
　　द्युग्मं भविष्यति सदा किल नाशनाय ॥

जो-जो पदार्थ यहाँ सबको अति विकराल दीखता है, इन दोनों भ्राताओंको वह पदार्थ सौम्य ही प्रतीत होता था, अर्थात् विकराल पदार्थों या जन्तुओंसे ये दोनों जरा भी भयभीत नहीं होते थे । यह बात देखकर अनुमान करनेवाले विज्ञ व्यक्ति यह निर्णय करते कि ये दोनों भाई ऐसे विकराल पदार्थों—जन्तु आदिकोंको निश्चय ही नाश करनेवाले होंगे ।

अथ क्रमेण मातृवञ्चनी बुद्धिरप्युद्बुद्धा । यत्र यत्र स च स च,—

नैव नैव चल चञ्चल ! रे रे,
　　वाक्यमेतदवकर्ण्य जनन्याः ।
मायया स परिवृत्य हसित्वा
　　तां निवर्त्य लषिते वरिवर्त्ति ॥

इसके बाद क्रमसे माताकी प्रतारणा करनेकी बुद्धि भी प्रकाश पाने लगी । जहाँ-जहाँ कृष्ण एवं बलराम रहते, वहाँ-वहाँ जाकर माता कहती—'अरे-अरे चञ्चल ! वहाँ मत जाना, मत जाना ।' माताके इस प्रकार वचन सुनकर कपटतापूर्वक हँसी करते हुए—'हाँ, हाँ, हम वहाँ नहीं जायँगे'—ऐसा कहकर माताको घर लौटा देते और माता जहाँके लिये मना करती, उसी स्थानपर चले जाते ।

अल्पहीनहायनवयस्त्वे तु जाते यत्र कुत्रचित् क्रीडनाय निर्गच्छन्तौ न सम्भालयितुं शक्येते । सम्भालितौ च तौ कुतो लीयेत इति नावधारयितुं वार्यते ॥

यद्यपि दोनोंकी अवस्था अत्यन्त छोटी थी, किंतु जहाँ-कहीं दोनों खेलनेके लिये निकल जाते, फिर दोनोंका पता कुछ न चलता एवं पता लगनेपर दोनों किसी स्थानपर जाकर छिप जाते, कोई उनको ढूँढ़ न पाता ।

अथ जननीद्वयमुभयतो वर्त्मावृत्य परितश्च धात्रीरवधानविधात्रीर्वितत्य द्रवन्तौ तत्र भवन्तौ गृह्णाति ।

फिर जननीद्वय दोनों तरफसे रास्ता रोक लेतीं एवं चारों तरफ सतर्क धात्रीगणको नियुक्त करके भागते हुए दोनों बालकोंको पकड़ लेतीं ।

ततो रुदन्तौ हसन्तौ च तौ गृहान्तरानीतावुद्वर्त्तनादिना वेषपरिवर्त्तनादिना च स्तनपायनादिना शायनादिना च रोचयति ।

फिर कभी जननीद्वय अपने बालकोंको रोता देखकर, कभी हँसता देखकर, घर पकड़ लातीं और उबटन करके, स्नान, कपड़े बदलकर, स्तनपानादि कराकर उन्हें आनन्दित करतीं* ।

अर्चावतार

आध्यात्मिक जगत्में साधकोंके हृदयमें अपने अनुभवोंको गुप्त रखनेकी स्वाभाविक इच्छा होती है; क्योंकि ऐसे अनुभवोंको व्यक्त करनेसे मान-प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जिससे अहंकारकी बेल फलती है, जो साधन-पथकी बड़ी बाधा है, यद्यपि आजकल ऐसे साधक कहानेवाले व्यक्ति भी हैं, जो केवल मान-प्रतिष्ठाकी लालसासे ही अपने अनुभव गढ़-गढ़कर प्रचार करते हैं। साथ ही यह लाभ भी है कि सत्य अनुभवोंके प्राकट्यसे अन्यान्य साधकोंको प्रोत्साहन मिलता है और निराश साधकोंमें आशाका संचार होता है । शास्त्रोंके सिद्धान्त प्राचीन ऋषियोंके व्यक्त अनुभवोंपर ही निर्धारित हैं। अतः इस विज्ञानके युगमें सत्य और विलक्षण अनुभवोंका प्राकट्य साधनकी सत्यता तथा उपयोगिताके लिये परमावश्यक प्रमाण सिद्ध हो सकता है ।

इस विचारके अनुसार मैं अपने एक परम मित्रके जीवनकी घटनाको, जिसको उन्होंने अपनी गुप्त कापीमें सुन्दर कविताके रूपमें लिपिबद्ध कर रक्खा था, उनकी आज्ञासे इस शर्तपर पाठकोंकी भेंट करता हूँ कि उनका नाम-धाम प्रकाशित करनेके लिये आग्रह न किया जाय । सत्य तो यह है कि ऐसे अनुभव उन्हीं भक्तों-संतोंको होते हैं, जिनके लिये प्रतिष्ठा 'शूकरीविष्ठा' होती है ।

इस कविताको सुचारुरूपसे समझनेके लिये किञ्चित् परिचयकी आवश्यकता है । इन भक्तजीका अपने इष्टदेव श्रीराधामाधवसे सखाभावका सम्बन्ध होनेसे ये भगवान् श्रीकृष्णको 'दादा' शब्दसे सम्बोधन करते हैं । इनके पूज्य गुरुदेवका मातृशरीर है, इसलिये उनको माँ कहते हैं। इनके अर्चावतार श्रीराधामाधवके श्रीविग्रह अष्टधातुके द्वारा निर्मित बहुत ही सुन्दर हैं, जो कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त आकर्षक हैं और अपना सजीव व्यक्तित्व प्रदर्शित करते हैं। और

* 'श्रीगोपालचम्पू' ग्रन्थ प्रातःस्मरणीय परम वैष्णव विद्वान् श्रीजीवगोस्वामीमहाराजकी बड़ी ही मधुर रसमयी रचना है । इस व्रज-रस-सुधा-प्रवाही दिव्य ग्रन्थका पूर्वभाग (पूर्वचम्पूः) सौभाग्यशील व्रज-रस-प्रेमी श्रीश्यामलालजी हकीम (श्रीश्यामदासजी) द्वारा अनुवादित और सम्पादित होकर उपर्युक्त श्रीहकीमजीके द्वारा ही श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन-मण्डल, वृन्दावनसे प्रकाशित हुआ है । इसमें श्रीगोलोक-लीला एवं श्रीकृष्णके दिव्य जन्मसे लेकर श्रीनारदके व्रजागमनतककी सारी वृन्दावनलीलाका तैंतीस पूरणमें बड़ी ही सुन्दर सरस संस्कृतकी सुललित रचनाओंमें वर्णन है । अनुवाद-सम्पादन सराहनीय है । ग्रन्थ बड़े साइजके ८३४ पृष्ठोंमें पूर्ण हुआ है । प्राक्कथन, निवेदन, सूची आदिके ५० पृष्ठ अलग हैं । इस सजिल्द, सुन्दर ग्रन्थका मूल्य १६.०० रुपये हैं और यह श्रीहरिनामसङ्कीर्तनमण्डल, वृन्दावनसे प्राप्त हो सकता है । उपर्युक्त लेख इसी ग्रन्थका एक अंश है । —सम्पादक

भी कई चमत्कारिक घटनाएँ इनसे सम्बद्ध हैं, जिनसे इनके अर्चावतार होनेकी सत्यता कई बार सिद्ध हो चुकी है।

मेरे ये मित्र एक वर्षके होंगे, इनकी माता इन्हें छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी। इनको इनकी नानी तथा मौसीने पाला-पोसा। इनकी मौसी सती-साध्वी प्रभुभक्ता थीं और गुरु माँको साथ लेकर यह अपने मायके गयी थीं, जहाँ हमारे मित्रको उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जब इनकी मौसी अपनी यहाँकी लीला समाप्त करने लगीं तो इन्होंने सत्पुत्रकी भाँति उनकी बड़ी सेवा की, जिससे संतुष्ट होकर उन्होंने श्रीधाम वृन्दावनमें वास प्राप्त होनेकी वर-स्वरूप आशीष दी, जो शीघ्र ही फलीभूत हो गयी। जब ये परिवार-सहित वृन्दावनमें आये तब इनको जो घर मिला, उसमें प्रकाश कम रहता था। इनके अर्चावतारका आगमन भी वहीं हुआ। किंतु इनको यह स्थान रुचा नहीं। इसलिये इन्होंने दूसरा अच्छा घर किरायेपर ले लिया और नवीन गृहमें प्रवेशके अवसरपर कीर्तनका आयोजन किया।

प्रेरणा तुम्हारीसे मैंने, सोचा मैं कीर्तन करवाऊँ।
इस नये गेहमें आनेका उत्सव थोड़ा-सा मनवाऊँ॥
अतएव दिवस निश्चित करके योजना बना डाली मैंने।
प्रेमी भक्तोंको सूचित कर तैयारी करवा ली मैंने॥
'माँ' से भी यह संवाद कहा, आग्रह आनेके लिये किया।
चलती वेला पूज्या माँने, मुझको प्रेमिल आदेश दिया॥
बोली, 'भैया! कुछ मालाएँ, अर्पण करने मँगवा लेना।
कुछके द्वारा सिंहासनको, अनुरागसहित सजवा लेना॥
मैं भी निश्चय ही आऊँगी, आरम्भ कार्य तुम कर देना।
कुछ भोग-व्यवस्था भी भैया! सरकार-युगलकी कर लेना॥
इस भाँति गेह आकर मैंने, परिपूर्ण व्यवस्थाएँ सब कीं।
पर दोपहरी हो जानेसे, पुष्पोंकी मालाएँ नहिं लीं॥
सोचा कि किसीके द्वारा उस अवसरपर ही मँगवा लूँगा।
सिंहासन भी कुछ समय पूर्व, उन सुमनोंसे सजवा लूँगा॥
आरम्भ कार्यक्रम होना था, तीसरे प्रहर दिन तीन बजे।
ढाईके लगभग ही प्रेमीजन आ पहुँचे उत्साह-सजे॥
माला दो को भेजा मैंने कोई, पर माला मिली नहीं।
उस समय क्षोभ अति हुआ हृदय उर कली हर्षकी खिली नहीं॥
पर करता क्या मजबूरी थी, गलती थी अपने ही मनकी।
उस समय नहीं जो चला गया, चिन्ता क्यों कर बैठा तनकी॥
अतएव कीर्तन जैसी भी स्थिति थी उसमें ही शुरू हुआ।
लग गयी गूँजने नाम-ध्वनि, प्रेमिल रस झरना शुरू हुआ॥
सरकार-युगल सिंहासनपर शोभित थे फैला भव्य छटा।
चञ्चल समीरके साथ-साथ, अठखेली करता पीत पटा॥
आनन्द अपरिमित था, लेकिन माला बिन मन अकुलाता था।
सूना सिंहासन देख-देख, अन्तर मन चैन न पाता था॥
अन्ततः वेदना और बढ़ी, अपने प्रमादका क्षोभ बढ़ा।
लग गई आग-सी प्राणोंमें, उसका भीषण उत्ताप बढ़ा॥
प्राणोंकी पिघलन कसक उठी, नयनोंमें नीर छलक आया।
बस, उसी समय माधव! तूने पावन लीला-रस बरसाया॥
वह माली जो पदसेवाहित, प्रति प्रात पुष्प ले आता था।
दर्शन कर मनमोहन छविका, पावन सुखसे पुलकाता था॥
वह उस वेला आ गया वहाँ, मालाएँ दो कर लिये हुए।
वाणी गद्गद, कम्पायमान घबराहट-सी तन छुये हुए॥
बोला, 'भैयाजी! मालाएँ मैं ले आया हूँ, पहना दो।
यदि और कोई आज्ञा हो तो वह भी इस क्षण तुम बतला दो'॥
हर्षातिरेकसे मेरा मन, उस समय पुलककर झूम गया।
मालीसे मालाएँ ले लीं, पर प्रश्न हृदय यह घूम गया॥
इसको तो आज कीर्तन है, इसकी कोई सूचना न थी।
फिर माला कैसे ले आया, जिसकी कोई कल्पना न थी॥
मैंने मालाएँ पहनाईं उसने श्रद्धासे नमन किया।
'कुछ देर हो गयी, क्षमा करो' यों कहकर उसने गमन किया॥
यह अप्रत्याशित भावपूर्ति मनको पुलकाये जाती थी।
हर नाम-ध्वनि छूती उरको दृगको छलकाये जाती थी॥
संयोग माननेको केवल, भावना न तिलभर तत्पर थी।
यह तो माधवकी लीला है, जो प्रकट हो गयी सत्वर थी॥
मैं इसी भावमें डूब गया कल्पना सहज सतरंग हुई।
इस अनायास सुखको पाकर, श्वासोंमें सरस उमंग हुई॥
मस्ती भी नाम-कीर्तनमें, उस दिवस निराली थी दादा!।
चुप-चुप ही तुमने जीवनकी सब कसक निकाली थी दादा!॥
दो-चार भजन मैंने भी उस पावन मस्तीमें छक, गाये।
हर भाव-शब्दने नाना रस गुणमणि, प्यालेमें भर प्याये॥

अन्ततः कार्यक्रम पूर्ण हुआ, पाकर प्रसाद सब चले गये।
माँको प्रसंग वह बतलाया, जिस तरह प्राण थे छले गये॥
सुनकर माँ भी आनन्दमग्न हो गयी कहा, 'प्यारे भैया!
तुमसे मनमोहन क्षण भर भी अब रंच नहीं न्यारे भैया!॥
वे घटघटवासी प्राणपुरुष सबकी सब सतत जानते हैं।
हो जाते हैं प्रत्यक्ष वहीं जो अपना उन्हें मानते हैं॥
अर्चावतार श्रीमाधवका साकार भावमय विग्रह है।
परिपूर्ण भक्तवत्सलताका, उस छविमें प्रकट अनुग्रह है॥
इस कायामें ही भक्तोंके वे सबसे ज्यादा परवश हैं।
बिल्कुल अकाम होकर बैठे, निज जन अनुगामी बरबस हैं॥
तुमपर तो कृपा अहैतुक है, नित प्यार लिये जाओ भैया!
छविसुधा प्रीतिके प्यालोंमें नित ढाल पिये जाओ भैया!'॥
उपरान्त दूसरे दिन माधव वह माली फिर जब घर आया।
तो गत लीलाका प्रकट दृश्य उसने यों मुझको बतलाया॥
'भैया! मैं मध्याह्नोपरान्त पाकर प्रसाद था लेट गया।
बगियाकी शीतलतामें ही निद्राने मुझे लपेट लिया॥
सहसा स्वप्नोंके दृश्य उठे, मन जगह-जगह घूमने लगा।
बस, उसी अवस्थामें उरको झकझोर कोई चूमने लगा॥
एकाग्र हो गयी चेतनता, त्यों ही सुषुप्ति साकार बनी।
प्राणोंकी दुनियाँमें छायी नटनागरकी मनुहार घनी॥
झकझोर जगाते हैं मुझको, कहते हैं 'उठ क्यों सोता है?।
मैं सेवासुख देने आया, यह समय व्यर्थ क्यों खोता है?॥
हो रहा कीर्तन आज वहाँ मालाएँ दो आवश्यक हैं।
तू लेकर दौड़ा जा तुरंत, हम राह देखते अपलक हैं'॥
मैं छविसे ही पहचान गया--यह तो घनश्याम तुम्हारे हैं।
दर्शन कर मैंने भी जिनके श्यामल पद हृदय सँभारे हैं॥
बस, जैसे ही वह स्वप्न हटा, मैं उठा तुरत घबराया-सा।
सपनेको सच्चा मान पुष्प चुनने भागा अकुलाया-सा॥
फिर माला शीघ्र बना करके पहुँचा मैं उसी अवस्थामें।
तो देखा भैया! भेद नहीं था तिल भर कहीं व्यवस्थामें"॥
यह भाव व्यक्त करते-करते फिर आँखें उसकी छलक गयीं।
पदरज लेने उसकी उस क्षण, मेरी भी चाहें ललक गयीं॥
मैं झुका चरण छूने कहकर—'बाबा! तुम सच बड़भागी हो।
प्रत्यक्ष दीखते नहीं किंतु प्रभुके सच्चे अनुरागी हो'॥
पर मुझे बीचमें ही उसने, अपनी बाँहोंमें बाँध लिया।
सचमुच माधव उस पल मैंने तुमसे मिलनेका स्वाद लिया॥
अर्चावतारकी लीलाका रस पीकर यों मन रीझ गया।
भावोंकी सरस माधुरीमें श्वासोंका सपना भींज गया॥

बोलो भक्त और उसके अर्चावतार भगवान्‌की जय!!

—निरञ्जनदास धीर

पुकारा करेंगे

कन्हैया, कन्हैया, पुकारा करेंगे।
उन्हीं पै यह नरतन निसारा करेंगे॥
बसी है हियेमें उन्हींकी जो मूरत।
उसीको निहारा सिँगारा करेंगे॥
भनक कान उनके कभी तो पड़ेगी।
कभी तो इधर भी इशारा करेंगे॥
हमें है न सुध अपने तनकी, न मनकी।
चरनमें उन्हींके ये वारा करेंगे॥
निहारोगे क्या नाथ? इस ओर भी तुम।
सुना था सभीको उबारा करेंगे॥

—नेतानाथ तिवारी

सर्वरोग-शोक-हर महामन्त्र

(प्रयोगकर्ता और प्रेषक—स्वामी श्रीसत्यानन्दजी 'हरि')

आज मैं अपने हृदयके भण्डारमेंसे अपने स्वानुभूत सफल फलप्रद महामन्त्रको जनकल्याणार्थ 'कल्याण'के पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ। मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि कोई भी मानव यदि पूर्ण विश्वासयुक्त हृदयसे इसका प्रतिदिन जप करेगा तो वह हर प्रकारके दुःखोंसे छूटकर परम शान्तिको प्राप्त करेगा तथा धूर्त मिथ्या तान्त्रिकोंसे भी बचा रहेगा।

मन्त्रपर मेरा अनुभव

मैंने इस मन्त्रके द्वारा बड़े-बड़े तान्त्रिकोंके मारण, उच्चाटन, वशीकरणके तन्त्रोंसे प्राणरक्षा पायी है। एक बार मुझे एक भयंकर रोगसे भी इसी मन्त्रके द्वारा छुटकारा मिला है। मैं स्वयं एक चिकित्सक हूँ एवं मेरा अन्य कई चिकित्सकोंसे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन मेरे रोगपर सभी दवाएँ असफल रहीं और एक दिन भयंकर ज्वर एवं जाड़ेके साथ गुप्तेन्द्रियमें जलन होनेपर केवल दस मिनट इस मन्त्रका जप अगरबत्ती लगाकर किया। उसी समयसे आज एक वर्ष बाद भी मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ।

मैंने अपने अतिरिक्त भी अनेक रोगियोंपर तथा दुखी व्यक्तियोंपर इस मन्त्रके ताबीजका सफल प्रयोग किया है। जो भी भाई अपना या दूसरोंका (परोपकार) दुःख दूर करना चाहें वे निम्न विधिसे मन्त्रको सिद्ध करके लाभ उठावें।

महामन्त्र—'हरि ॐ तत्सत् ।' 'हरि ॐ शान्तिः ।'

सिद्ध करनेकी विधि

'हरि ॐ तत्सत्' मन्त्रका प्रातःकाल स्नान आदिसे निवृत्त होकर धूप आदिसे स्थानको पवित्र कर १०८ बार पूर्ण विश्वास एवं एकचित्तसे जप करें तथा संध्याको स्नानकर या केवल हाथ-पैर धोकर 'हरि ॐ शान्तिः' मन्त्रका जप इसी विधिसे १०८ बार करें। इस प्रकार दोनों समयका जप लगातार २१ दिनोंतक करें। २१वें दिन शुद्ध घृत, जौ, तिल, शक्कर तथा मधुसे १०८ आहुतियाँ देकर शान्त स्थानमें हवन करें। बस, मन्त्रकी सिद्धि हो गयी।

अब यदि इसको ताबीजमें भरना हो तो प्रातःकाल-वाले 'हरि ॐ तत्सत्' 'मन्त्र'को ऊपर तथा संध्या-वाले 'हरि ॐ शान्तिः' 'मन्त्र'को नीचे तथा बीचमें केवल 'ॐ' शब्द सफेद कागजपर कुंकुमसे लिखकर, उक्त मन्त्रको ७ बार बोलते हुए एवं भगवान् श्रीकृष्ण प्रभुका ध्यान तथा दुःख-निवारणके लिये शक्ति देनेकी प्रार्थना करते हुए धूप देकर ताँबे या चाँदीके ताबीजमें भर दें। तदनन्तर शरीरपर पुरुषको दाहिने हाथमें, स्त्रीको बायें हाथमें अथवा दोनोंके गलेमें धारण करें।

लाभ

इसके सिद्ध कर लेनेके बाद आपको किसी भी धर्मसङ्गत उचित कार्यमें—मुकदमा, रोग, लड़ाई, विवाह, गृहस्थी-संचालन, नौकरी, व्यापार आदि सम्बन्धी हर संकट-निवारणमें पूर्ण सफलता प्राप्त होगी। किंतु पूर्ण विश्वास रखना आवश्यक है। फल-प्राप्तिके बाद एक नारियल प्रभुको अवश्य कहीं भी चढ़ाकर प्रसाद बाँट दें।

चेतावनी

१. इस मन्त्रका वशीकरण, उच्चाटन, मारण, दूसरेके हितका नाश या अन्य किसी भी अनुचित कार्यमें कदापि प्रयोग न करें। उसमें सफलता नहीं मिलेगी। वरं उल्टी हानि हो सकती है।

२· इसको ताबीजमें भरकर उसे कभी बेचें नहीं।

३· ईश्वरपर पूर्ण विश्वास एवं मन्त्रसे पूर्ण लाभका विश्वास रखकर ही सिद्धि करें या झाड़नी दें।

४· सर्प या जहरीले (किसी भी) कीड़ोंके दंश-पर या बच्चोंके रोग अथवा ताबीज न मिलनेपर मन्त्रको बोलते हुए किसी भी धारदार वस्तुसे झाड़नी दें। यदि सिद्धिकर्तासे दुखी व्यक्ति दूर स्थानपर है तो उसे अभिमन्त्रित ताबीज बाँधनेको भेज दें। यदि कोई भयंकर रोग, जैसे दंश या गर्भकालकी पीड़ा है तो ताबीजको प्रभुका नाम ले सात बार जलमें धोकर उस जलको पिला दें एवं बार-बार पूर्ण लाभ होनेतक यही क्रिया करते रहें। लाभ होगा। ॐ शान्तिः।

धनका बँटवारा

[कहानी]

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतमें शाहंशाह सिकन्दर विजयी हुए। सर्वत्र उनकी वीरता और पौरुषका डंका पिट गया। विजेता सिकन्दर सत्ताके मदमें चूर थे। बहुत बड़ा भूभाग जीत चुके थे। बड़ी भारी सेना उनके पीछे थी। भारतमें थोड़ी देरके लिये तो उनका आतङ्क छा गया था। सैन्यबलसे सभी भारतीय भयभीत थे।

डरे हुए भारतने उनका स्वागत किया। संसारने सिकन्दरका लोहा माना था। जिसने उनकी वीरताकी बात सुनी, वही उनके पौरुषसे स्तब्ध रह गया। उनकी मान-प्रतिष्ठा करनेके लिये अनेक स्थानोंपर आयोजन किये गये। राजा, महाराजा, धनिक, सत्ताधारी तथा जनताके अनेक नेता सार्वजनिक रूपसे उनका सम्मान करने एकत्रित हुए।

जो मिलने आया, सिकन्दर महान्‌के लिये कुछ उपहार लेकर ही हाजिर हुआ। एक-से-एक बहुमूल्य उपहार भेंट किये गये। भारत सोनेकी चिड़िया कहलाता था। अतः ये उपहार भी एक-से-एक बढ़-चढ़कर थे। उन्हें भय था कि साधारण उपहार होनेसे कहीं विश्व-विजयी सिकन्दर रुष्ट न हो जायँ। यदि कहीं क्रुद्ध हो गये, तो शायद कयामत ही आ जायगी। प्रत्येक भारतीय कीमती भेंट देकर उन्हें खुश कर लेना चाहता था और यथासम्भव सम्मान प्रदर्शित कर रहा था।

विजेता सिकन्दरके चरित्रमें वीरता और पौरुष प्रचुरतासे थे, किंतु धनका लालच और शक्तिका अहङ्कार भी कम न था। वे निरन्तर अपने साम्राज्यका विकास कर रहे थे। बहुमूल्य माणिक, मोती, हीरे, पन्ने, असंख्य स्वर्णमुद्राएँ, चाँदी-सोनेके ढेर उन्होंने एकत्रित कर लिये थे, किंतु हाय! उनकी लोभवृत्ति, उनकी धनसंग्रह तथा सत्ताविस्तारकी लालसा संतुष्ट नहीं हुई थी। कैसा दुःख है कि जिन लोगोंके पास अधिक धन-सम्पदा है, समाजमें लोग उन्हींको आदर और प्रतिष्ठा देने लगते हैं। वे मूर्ख यह देखना नहीं चाहते कि इस धनवान्‌ने जो प्रचुर धन संग्रह किया है, वह किन मार्गोंसे किया है।

यदि धनसे किसी विजेताका बड़प्पन नापा जाता, तो निःसंदेह विजेता सिकन्दर संसारका सबसे अधिक शाहंशाह था। एक ओर विश्वविजयका स्वप्न, तो दूसरी ओर धनका लोभ!

बेईमानी या शोषणसे धन लूट-खसोट लेनेपर उस व्यक्तिका जब अवमानना और घृणाके स्थानपर सम्मान होने लगता है, तो दूसरे लोग भी वैसे ही अनुचित तरीकोंसे धन एकत्रित करने लगते हैं! आज भ्रष्टाचार, मिथ्याचार, चोरबाजारी, तस्कर-व्यापार, मिलावट और नकलीपन धनको अनुचित महत्त्व देनेके—इस चोरपूजाके ही दुष्परिणाम हैं।

सिकन्दरके आतङ्कसे प्रभावित कुछ भारतीय राजा उनसे मिलने आये।

नियम यह था कि जो उनसे मिले, वह अपनी हैसियतके अनुसार कोई बहुमूल्य भेंट भी पेश करे। जो ऊँची हैसियतके धनिक मिलने आये, वे भेंटस्वरूप भाँति-भाँतिके कीमती उपहार भी लाये।

फिर क्या था, देखते-देखते सम्राट् सिकन्दरके सामने तरह-तरहकी मूल्यवान् चीजोंका ढेर लग गया। एक-से-एक बढ़कर वस्तुएँ सजी हुई थीं।

लोभी सम्राट् उन्हें बड़े घमंडसे देख रहा था।

उस अतुल सम्पदाके भारी मूल्यका अनुमान लगाना सहज न था। और फिर भी अनेक सत्ताधारी भारतीय राजा उनके सामने अपने उपहार भेंट करनेवाले थे।

सभी नयी-नयी वस्तुएँ भेंट कर रहे थे। एक-से-एक बढ़कर कीमती चीजें थीं। हर व्यक्ति चाहता था कि अपनी कीमती भेंटसे सिकन्दरको प्रसन्न कर ले। चूँकि सिकन्दर धनलोलुप थे, इसलिये वह अधिक-से-अधिक मूल्यवान् वस्तु भेंटमें देना चाहता था।

इतनेमें एक भारतीय राजा भेंट करने आये। उन्होंने सोनेके थालमें कुछ भेंट रख रक्खी थी। ऊपर रेशमी वस्त्रसे वह ढका हुआ था।

राजाने बड़े आदरपूर्वक वह थाल शाहंशाह सिकन्दरके चरणोंके समीप रख दिया और स्वयं शिष्टतासे वे एक ओर खड़े हो गये। बोले—'हजूर, इस अकिञ्चनकी यह विनीत भेंट स्वीकार फरमायी जाय। बड़ी श्रद्धासे लाये हैं। देखकर खुश हो जायँगे। बहुत लाजवाब चीज है।'

'क्या है इसमें? इसका रेशमी वस्त्र हटाओ।' सिकन्दरने उत्सुकता दिखाते हुए कहा।

नौकरने थालपरसे वस्त्र हटाया। अजीब उपहार था वह!

'अरे, ये तो पके हुए फल हैं। पर ये सब सुनहरे क्यों हैं? आगे करो, देखें कैसे हैं? अजीब फल हैं। बड़े लुभावने नजर आते हैं।'

थाल आगे बढ़ाया गया। सिकन्दरने एक फल उठाया।

'ओह! यह तो सोनेका बना हुआ है। अहा, कितना सुन्दर है। वाकई कमाल है कमाल! भारतीय शिल्पकारने इन्हें बनानेमें कमाल ही कर दिया है। दूरसे कोई पहचान ही नहीं पाता कि असली हैं या किसी धातुके? भारतमें सुनारोंको दर-असल कमाल हासिल है। उनकी इस बेहतरीन कारीगरीपर हम बेहद खुश हैं। खूब रही यह आपकी भेंट। इन्हें हम यूनान ले जायँगे और भारतकी कारीगरी सबको दिखायेंगे।'

'शाहंशाहको ये फल पसंद आये, यह जानकर हमें बड़ा संतोष हुआ! ये असली सोनेके बने हुए हैं। बाहरसे जितने खूबसूरत हैं, उतने ही महँगे भी हैं। इनका मूल्य कई लाख रुपये हैं। सौन्दर्य और भारी मूल्य—ये दोनों विशेषताएँ इनमें मौजूद हैं।।'

'लेकिन एक बात समझमें नहीं आयी!'

'वह क्या है? हम उसे स्पष्ट करनेकी कोशिश करेंगे।' शिष्टतापूर्वक राजा बोले—

'यह बताइये कि इन्हें सोनेका क्यों बनवाया गया है? यह और किसी धातुके, मिट्टी, कागज, लकड़ी या अन्य किसी चीजके भी बने हुए हो सकते थे? यह कारीगरी शायद तब और मोहक हो सकती थी।' सिकन्दरने जिज्ञासा प्रकट की—

'हजूर, आपको केवल एक ही धातु पसंद है। यह वह धातु है, जो सबसे अधिक कीमती है। आपकी रुचि देखकर ही सोना चुना गया है'''उम्मीद है कि हम आपको गलत नहीं समझे हैं।' राजाने स्पष्टीकरण किया।

सिकन्दर इस व्यंग्यसे कुछ चिढ़ गया। उसकी लालची वृत्तिपर कटु प्रहार किया गया था। मन-ही-मन उसने अपनी मोह और लोभवृत्तिपर लज्जाका अनुभव किया।

बातको टालनेके इरादेसे वह बोला—

'इस समय तो सोनेके न होकर अगर ये सब फल सचमुचके फल ही होते, तो मैं उन्हें कहीं ज्यादा पसंद करता। भूख लगी हुई है और सोना खाया नहीं जाता। हिंदुस्तानके फलोंको चखनेकी बड़ी इच्छा होती है। आपके देशमें रंग-बिरंगे, बड़े लाजवाब मधुर फल मिलते हैं। खास तौरपर आमोंको देखकर तो मुँहमें पानी भर आता है। बड़े मीठे होते हैं, इस देशके ये फल!'

'जी हाँ, यह देश उपजाऊ खेतों और कलकल-निनादिनी सरिताओंका देश है। प्रकृतिने सबसे अच्छी चीजें इसे दी हैं। फल, शाक और तरकारियाँ उसीकी देन हैं। यहाँ दूधकी नदियाँ बहती हैं।'

'तभी तो इस देशको सोनेकी चिड़िया कहा गया है। खूब, बात दर-असल ठीक ही साबित हो रही है।'

'सोनेकी चिड़िया! लेकिन यहाँवाले सोनेसे ही किसीके बड़प्पनका मूल्याङ्कन नहीं करते हैं। सज्जनके लिये शिक्षा और दुष्टके लिये तलवार—पूर्वजोंने हमें यह बात सिखायी है।'

'आध्यात्म और दर्शनशास्त्रोंमें भारत बहुत आगे रहा है······।'

'श्रीमान्, पूर्वजोंने हमें और भी बात सिखायी है कि सबपर यथासम्भव दया करना, नेकीसे पेश आना, किसीको न तो दबाना, न किसीको कष्ट ही पहुँचाना। सारी विचार-धाराका निचोड़ यह है कि कोई अनुचित कार्य न किया जाय······।'

'क्या तुम्हारे कहनेका यह मतलब है कि हम अत्याचारी हैं। अन्यायी हैं?'

'श्रीमान्, अनीति जब अपनी राक्षसी शक्ति बढ़ाकर अत्याचारकी ओर अग्रसर हो जाती है, तब उसकी गति रोकना अनिवार्य हो जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो नीति और शान्तिका अस्तित्व ही खतरेमें पड़ जाय··· अत्याचारको सिर झुकाना नैतिकता और चरित्रके अभावका द्योतक है···हर अन्यायीको मुँहतोड़ जवाब देना राजनीतिका प्रमुख अङ्ग है। हमारे यहाँ शास्त्र और शस्त्रका समन्वय है।'

इतनेमें बाहर कुछ व्यक्तियोंके झगड़नेकी आवाज आयी। सिकन्दर—'ये बाहर कौन लोग झगड़ रहे हैं। इन्हें हमारे सामने हाजिर करो।'

नौकर बाहर गये।

दो व्यक्ति झगड़ रहे थे। उनके पास अशर्फियोंसे भरा हुआ एक कलश था। उसीके स्वामित्वपर दोनोंमें झगड़ा चल रहा था।

'तुम क्यों झगड़ रहे हो?' नौकरने पूछा।

'हम इस अशर्फियोंके कलशपर झगड़ रहे हैं।'

नौकर बोले—'धनपर झगड़ा हमेशा चलता ही रहता है। हम समझ गये। तुम्हारे समझानेकी जरूरत नहीं है। तुम दोनों ही इस धनको लेना चाहते होगे। यह प्रश्न सिकन्दर महान् ही तय कर सकते हैं।'

नौकरने वह धनका कलश उनसे छीन लिया।

उन्हें कड़ककर हुक्म दिया—'तुम दोनों हमारे पीछे-पीछे चले आओ। तुम्हें सम्राट् सिकन्दरके सामने पेश किया जायगा। वे ही तुम्हारे मुकदमेका फैसला करेंगे। यहाँ बाहर खड़े-खड़े झगड़ रहे हो।'

'हम तो स्वयं ही अपने मामलेका निपटारा कराने सम्राट् सिकन्दरके पास आये हैं।' वे बोले।

दोनों झगड़नेवाले भारतीय नौकरके पीछे-पीछे चलकर सिकन्दर महान्के सामने हाजिर हुए। मुकदमा पेश हुआ। सबके नेत्र उधर लगे हुए थे।

नौकरने मुहरोंका कलश सम्राट्के समक्ष रख दिया और बड़ी शिष्टतापूर्वक निवेदन किया—'हजूर, इन दोनोंमें इस अशर्फियोंके कलशको लेकर झगड़ा हो रहा था। मैं दोनोंको पकड़ लाया हूँ। अब आप इनका फैसला कीजिये।'

'तुम क्यों झगड़ रहे हो?' सिकन्दरने एकसे पूछा।

'हजूर, मेरे खेतमेंसे यह अशर्फियोंका कलश निकला है।'

'ठीक है। फिर इन अशर्फियोंपर तुम्हारा ही हक बनता है। तुम यह ले लो। झगड़ेकी क्या बात है? जिसके खेतमें धन निकला, उसीका वह है।'

'हजूर, यह खेत मैंने इनसे (दूसरे व्यक्तिकी ओर संकेत करते हुए) खरीदा था।'

'कोई हर्ज नहीं। तुमने खेत खरीद लिया। तुम उसके मालिक हो गये।'

'हजूर, मैं इनसे कहता हूँ कि मैंने तो केवल खेत ही खरीदा था। उसके अंदर गड़े हुए धनपर मेरा अधिकार नहीं बनता। इसलिये आप इस अशर्फियोंके कलशको ले लीजिये; क्योंकि यह आपका ही है। ये उसे स्वीकार नहीं करते।'

सिकन्दरने दूसरे आदमीसे कहा—'आप क्यों इस धनको कबूल नहीं करते? आता हुआ धन है। ले लीजिये। ये अपनी मर्जीसे दे रहे हैं, तो लेनेमें क्या हर्ज है?'

वह कहने लगा—'श्रीमान्, जब मैंने खेत इन्हें बेच दिया और उसकी पूरी रकम वसूल कर ली, तो उसमें पैदा होने या पायी जानेवाली प्रत्येक चीज ही इनकी हो गयी। यह गड़ा धन भी इन्हींका है। उसपर इन्हींका नैतिक हक बनता है। यह धन इनसे छीनना मेरे लिये पाप है। बेईमानीसे कमाया धन कभी किसीके पास नहीं ठहरता।'

सिकन्दरने फिर पहले व्यक्तिकी ओर संकेत किया; 'आपको कुछ और सफाई पेश करनी है? आप क्यों धन नहीं स्वीकार करते?'

'हजूर! मैं खेतमें फसल पैदा कर लेता हूँ? सालभर मेहनत करता हूँ। पाँचों अँगुलियोंके श्रमसे पैदा हुआ धन ही मेरे हककी कमाई है। उसका मैं सहर्ष उपभोग करता हूँ, वह मुझे फलता है; ईमानदारीसे कमाया ही धन ठहरता है। जिस धनके लिये मैंने कोई मेहनत नहीं की है, जो न्यायोपार्जित नहीं है, जो इनकी जमीनमें पहलेसे गड़ा है, वह तो मेरे लिये चोरीका धन है, उसे लेना पाप है। उसे मैं लूँगा, तो ईश्वरके न्यायके अनुसार स्वयं अपनी पुण्यकी कमाई भी खो बैठूँगा। बेईमानीकी, बिना हककी सम्पत्ति पापपूर्ण है। मैं उस धनको लेकर दुर्गुणी नहीं बनना चाहता। पापीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्पकालमें नष्ट हो जाती है। मुझे मुफ्तका माल नहीं चाहिये। मैं क्यों पापका भागी बनूँ?'

'ओह! अजीब उलझन है। अशर्फियोंसे भरा यह कलश दोनोंमेंसे कोई भी नहीं लेना चाहता।' सिकन्दरने निःश्वास भरते हुए कहा, 'इसके पहले कि हम अपना फैसला दें, आपको एक बार फिर अपना पक्ष स्पष्ट करनेकी इजाजत दी जाती है।'

'हजूर, मैं तो अपने पक्षको पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ। पराया धन—पापकी कमाई मैं कभी न लूँगा।' पहलेने कहा।

दूसरा कहने लगा, 'सरकार, पसीनेकी पुण्य कमाईसे ही मनुष्यमें बरकत आती है। ईमानदारीसे अर्जित धन ही ठहरता है। यह धन यदि मैं स्वीकार भी कर लूँ तो भापकी तरह क्षणभरमें किसी-न-किसी रूपमें मेरे हाथसे निकल जायगा। धन उन्हींके पास ठहरता है जो सद्गुणी हैं।' उत्तर सुनकर सिकन्दर अजीब हैरानीमें पड़ गया! वह सोचने लगा—

'किसे यह धन दूँ? इतनी बड़ी राशि और दोनोंमेंसे कोई भी उसे स्वीकार करनेको तैयार नहीं है। इस देशमें धनके प्रति तनिक भी लालच नहीं। यहाँका साधारण हैसियतका आदमी भी हर पैसेको पाप-पुण्यकी तराजूपर तौलता है। हरामकी एक पाई भी नहीं लेना चाहता। मुफ्तका माल घरपर रखनातक नहीं चाहता। बेईमानीकी कमाईसे घृणा करता है। एक ओर ये विवेकशील लोग हैं जो धनका महत्त्व तभी मानते हैं, जब वह नीतिपूर्वक कमाया जाय········दूसरी ओर मैं हूँ जो धनके पीछे पागल-सा हुआ फिरता हूँ········अनीति, अन्याय और हिंसातक धन पानेके लिये करता रहता हूँ········ हाय! मैंने इस क्षुद्र धनकी खातिर न जाने कितना अन्याय किया है! मेरे द्वारा उत्पीड़ित न जाने कितने लोग कराह रहे होंगे········आगे चलकर इस लोभवृत्तिके जाने कितने घातक दुष्परिणाम होंगे?········यह धन-पूजाका ही कुपरिणाम है कि मैं अपने मनमें इतना सदा विक्षुब्ध और अस्थिर रहता हूँ। मेरा सारा मन केवल धनपर ही टिका रहता है········धनको धनवान् होनेके लिये ही चाहे जैसे बटोरना, हर किसीसे लूट-खसोटकर एकत्रित करते जाना, अपनेपर ही खर्च करना, कोई मतलब नहीं रखता········हाय! मैंने धन बटोरनेमें ही सारी जिंदगी नष्ट कर दी········आज भारतमें मुझे यह प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि धन कमाना और खर्च करना भी धर्मके ही अङ्ग हैं। धनका सदुपयोग न करनेवाले धनी तो दयाके पात्र हैं ही, पर वे उनसे भी निर्धन अधिक मानसिक दयापात्र हैं जो धन देखकर ही किसीको श्रेष्ठ मान लेते हैं········।'

यह सोचते-सोचते सिकन्दरका मन पश्चात्तापसे भारी हो उठा। आस-पास खड़े सब लोग तथा दोनों भारतीय आश्चर्यसे उसकी भाव-भङ्गिमाएँ देख रहे थे। आज क्या संघर्ष मचा है इस महान् विजेताके मनमें?

क्या फैसला होता है इस मुकदमेका? यह धन किसे मिलता है?

सब भारी उत्सुकतासे फैसलेकी बाट देख रहे थे। सिकन्दर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कुछ भी तय नहीं कर पा रहा था। अजीब हालत पैदा हो गयी।

एक बार फिर उसने उन्हें जाँचा।

पहलेसे कहा, 'इतनी बड़ी रकमको ठोकर मार रहे हो। अब भी मंजूर कर लो, अन्यथा बादमें पछताओगे।'

'जी, मैं मुफ्तके मालसे सख्त नफरत करता हूँ। मुझे ये पैसे नहीं लेने हैं।'

दूसरेसे भी उसी सवालको दोहराया।

उसने उत्तर दिया, 'जिस पैसेको मैंने कमाया नहीं है, जो पराया है, वह मुझे किसी हालतमें स्वीकार नहीं है।'

'अच्छा, एक बात बताइये ?'

(पहले व्यक्तिसे) 'तुम्हारे कोई विवाह योग्य संतान है ?'

'मेरा पुत्र पच्चीस वर्षका हो चुका है। अभी विवाहके लिये प्रयत्न कर रहा हूँ।'

(दूसरेसे), 'तुम्हारे कोई विवाहके योग्य संतान है ?'

'जी, मेरी पुत्री सोलह वर्षकी हो चुकी है। योग्य वरकी खोज-बीन हो रही है।'

'ठीक है! काम बन गया! देखो, तुम दोनों ही नैतिक दृष्टिसे एक-से-एक बढ़कर सज्जन हो। तुम्हारा जीवन आदर्श है। यदि तुम परस्पर सम्बन्धी बन जाओ, पुत्र-पुत्रीका रिश्ता तय कर लो, तो कितना अच्छा रहे! दोनों पक्ष सज्जन मिल जायँ, तो उनकी संतान भी बड़ी ही उत्तम होगी। मेरा दोनों पक्षोंसे आग्रह है कि यह रिश्ता स्वीकार कर लें।'

दोनोंने यह सुझाव सुना। उसपर विचार किया, दोनोंको लगा कि सुझाव तो अच्छा है।

शुभ कार्यमें ईश्वर सहायक और प्रेरक होता है। ईश्वरके हाथ सदा पवित्रतामें हमें बढ़ाते रहते हैं।

प्रत्येक मनुष्यमें अनेक दैवी शक्तियाँ गुप्तरूपसे विराजमान हैं, परंतु जिनमें उन शक्तियोंका विकास हो चुका है, ऐसे सत्पुरुषोंसे जब किसीका मानस-सम्बन्ध होता है, तब उसमें भी आध्यात्मिक शक्तियाँ जाग उठती हैं।

यदि स्वार्थ और लोभके अपवित्र विचारोंका लोप हो जाय, तो मनुष्य स्वयं यह अनुभव करता है कि वह एक दिव्य आत्मा है और प्रेममय भावनाओंसे परिपूर्ण है।

'ठीक है, यह रिश्ता हमें मंजूर है।' वे बोले।

सिकन्दरने प्रसन्न होकर कहा, 'बस, यह अशर्फियोंका कलश हम नये वर-वधूको उपहारस्वरूप देते हैं। ये बच्चे इस धनसे अपना नया कारोबार शुरू कर सकते हैं।'

यह खूब न्याय रहा! मानो यह ईश्वरका ही न्याय हो!

वे बोले, 'अब यह धन एक सम्राट्की ओरसे वर-वधूके लिये मंगल उपहार है। सम्राट्की ओरसे मिला हुआ धन पुण्यका धन है। बच्चोंको आगे बढ़ानेके लिये एक प्रकारकी आर्थिक सहायता है। अतः हम दोनों इस उपहारको मंजूर करते हैं।'

दोनों प्रसन्न होकर चले गये।

सिकन्दरको धनविषयक एक बड़ी शिक्षा मिली। वह सोचने लगा, 'धन तो ऊँचे उद्देश्यके लिये एक साधनमात्र है, साध्य नहीं। मैं गलतीपर था। धन व्यक्तिका नहीं, प्राणिमात्रका है। उसपर कब्जा करनेकी कोशिश मेरी मूर्खता ही थी। उसका सबकी उन्नति तथा सुखके लिये सदुपयोग ही होना चाहिये।'

बालक श्रीव्रजचन्द्रकी बालक्रीड़ा

बछरा की लै पूँछ कर पकरि भजावत ताहि।
पाछे पाछे सखन सँग ताके भाजत जाहिं॥
नित नूतन क्रीड़ा करत बालक श्री व्रजचंद।
देत-लेत आनंद नित सच्चित्-आनँद-कंद॥

पुनर्जन्म और जडवाद

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

महर्षि पतञ्जलिके अनुसार वासनाओंके अनुसार ही अगले जन्ममें नया शरीर प्राप्त होता है। डार्विनका कहना है कि कामनाओंकी पूर्तिके निमित्त जीवधारियोंके शरीरमें परिवर्तन होता रहता है और एक पीढ़ीका परिवर्तन दूसरी पीढ़ीको उत्तराधिकारके रूपमें मिलता है और इस प्रकार परिवर्तन होते-होते एक योनि दूसरी योनिमें परिवर्तित हो जाती है। अपने मतकी पुष्टिमें वे अफ्रीकाके पशु जिराफीका उदाहरण देते हैं, जिसकी गर्दन इसलिये बहुत लम्बी हो गयी है कि अफ्रीकामें वृक्ष बहुत ऊँचे होते हैं और उनकी पत्तियाँ खानेके लिये उसे अपनी गर्दन बहुत अधिकताननी पड़ती थी। प्रत्यक्ष भी देखनेमें आता है कि काम, क्रोध, भय, शोक, लोभादिका शरीरपर तात्कालिक प्रभाव पड़ता है, जिसका एक सूक्ष्म अंश स्थायी परिवर्तन छोड़ जाता है। यही कारण है कि अनुभवी लोग मनुष्यकी आकृतिको देखकर बहुत कुछ उसके स्वभाव एवं चरित्रका पता लगा लेते हैं। कामना और शरीरका सम्बन्ध एक और प्रकारसे भी समझमें आता है। जीवनमें जो कुछ भी हमें अपनी कामनाओंके अनुकूल प्राप्त होता है, उसे ही हम रखनेका प्रयत्न करते हैं और जो कुछ ऐसा प्राप्त होता है जो हमारी कामनाओंमें बाधक हो, उसे हटानेका प्रयत्न करते हैं, और जो कामनाओंकी पूर्तिमें न तो सहायक है न बाधक, उसकी ओर हमारी दृष्टि तटस्थताकी होती है। अब शरीरको लीजिये, इसे न तो हम त्यागना चाहते और न इसकी ओरसे तटस्थ हैं। यही नहीं, इसके छूट जानेकी कल्पना तकसे हम सिहर उठते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि हमारा शरीर हमारी कामनाओंके अनुरूप ही है। पतञ्जलि और डार्विन दोनोंके अनुसार कामना कारण है और शरीर कार्य। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मृत्युकालतक हमारी वे कामनाएँ नष्ट नहीं होतीं, जो एक शरीरके बिना पूरी नहीं हो सकतीं तो फिर जिस प्रकार एक घरके नष्ट हो जानेपर यदि वे कामनाएँ नष्ट नहीं हुईं, जिनकी पूर्ति एक घरके बिना असम्भव है, एक वस्त्रके फट जानेपर वे कामनाएँ नष्ट नहीं हुईं जिनकी पूर्ति एक वस्त्रके बिना असम्भव है, तो हम अपनी आवश्यकता, सामर्थ्य और परिस्थितियोंके अनुसार नया घर अथवा नये वस्त्रको प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार एक शरीर छूट जानेपर यदि हमारी वे कामनाएँ नहीं छूटीं, जिनकी पूर्ति एक शरीरके बिना असम्भव है, तो हम अपनी वासना, सामर्थ्य और परिस्थितियोंके अनुसार एक नया शरीर धारण करते हैं। जबतक कारण नष्ट नहीं हुआ, कार्य नष्ट नहीं हो सकता—वह अपना रूप बदलता रहता है। शरीर और वासनाका सम्बन्ध समझ लेनेके पश्चात् हम यह भी जान सकते हैं कि अगले जन्ममें किसे कौन-सी योनि प्राप्त होगी। जो लोग अति कामुक हैं, उन्हें बन्दर और चिड़ेकी योनि प्राप्त होनी चाहिये; क्योंकि मानव-शरीरमें इतने अधिक काम-सेवनकी क्षमता नहीं है। इसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी स्वभाववालोंके लिये हम सर्पयोनिकी भविष्यवाणी कर सकते हैं।

एक वस्त्र छूट जानेपर दूसरा वस्त्र धारण करने तकके बीचका जो समय निर्वस्त्रताका है, वैसा ही एक शरीर छूट जानेपर दूसरा शरीर प्राप्त होनेके बीचका समय प्रेतावस्थाका है।

पर आजकल विकासवादकी धूम है। शरीर-रचनामें वासनाके महत्त्वको स्वीकार करते हुए भी विकासवाद पुनर्जन्मको नहीं मानता। विकासवादी शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जडके एक विशेष संयोगसे चेतन उत्पन्न हो जाता है और शरीरके नष्ट होनेके साथ-साथ वह भी नष्ट हो जाता है। अतः पुनर्जन्म या परलोकका भी कोई प्रश्न नहीं उठता। हम पुनर्जन्मवादी इसमें केवल इतना स्वीकार करते हैं कि जडके विशेष प्रकारके संयोगमें विशेष प्रकारकी आत्माको आकर्षित करनेकी शक्ति आ जाती है; परंतु वह संयोग आत्माको उत्पन्न कर देता है—यह हम स्वीकार नहीं कर सकते। गुड़में मक्खीको आकर्षित करनेकी शक्ति है। वह मक्खीको उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि चेतनकी उत्पत्ति केवल जड और परिस्थितियोंपर ही निर्भर है तो एक ही परिस्थितिमें उसी जडका केवल एक अंश ही मनुष्य क्यों बना? दूसरा वनस्पति बनकर क्यों रुक गया? तीसरा केवल मछलीतक और चौथा वानरतक ही क्यों पहुँच पाया और पाँचवाँ आज भी क्यों जड है? एक उद्योगशालामें एक ही परिस्थितिमें एक-से कच्चे मालसे जो पदार्थ निर्मित होते हैं, वे

एक-से होते हैं, जब कि क्रमिक विकासकी सृष्टिमें ऐसा नहीं है। यहाँतक कि मानवयोनिमें भी कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिलेंगे, जिनके अँगूठेकी छापतक एक-सी हो। अतः मानना पड़ेगा कि जीवधारियोंके पारस्परिक भेदका कारण परिस्थिति, विकासवाद और वंशानुक्रमके अतिरिक्त कुछ और भी है। जिस क्षेत्रमें मानवका अवतरण हो चुका है, वहाँ बन्दर अब भी रहते हैं। अतः मानना पड़ेगा कि जो वानर मनुष्य बन गये, वे विशेष प्रकारके वानर थे और इन वानरोंसे भिन्न थे, जो मानव नहीं बन पाये और न आगे चलकर मानव बननेका कोई भी लक्षण उनमें आज भी पाया जाता है। इसी प्रकार जो जड मछली बना और जो मछली वानर बनी, वह आजके जड और मछलीसे नितान्त भिन्न थे। नहीं तो क्या कारण है कि हमारा वर्तमान जड मछली और आजकी मछली वानर नहीं बन सकी।[1] प्रकृतिमें इतनी विषमता क्यों हुई कि उसकी क्रमिक विकासकी चेष्टाका कुछपर तो प्रभाव हुआ और कुछपर नहीं और जिनपर हुआ उनपर भी एक-सा नहीं ! यदि सारा ही जड मानव बन जाय तो मानव क्या एक दूसरेको खायगा ! क्रमिक विकासके साथ-साथ प्रकृतिकी यह चेष्टा भी देखनेको मिलती है कि जड, वनस्पति, जलचर, नभचर, वनचर और मानवमें एक उचित संतुलन रक्खा जाय, नहीं तो विकासका अर्थ विनाश होगा और इस प्रकारकी चेष्टा चेतनमें ही हो सकती है, जडमें नहीं। अतः मानना पड़ेगा कि इस क्रमिक विकासके पीछे भी किसी चेतन सत्ताका हाथ है। जडवादी यह बतलानेमें असमर्थ हैं कि यदि पृथ्वीपर भी वे परिस्थितियाँ उत्पन्न न हुई होतीं जो क्रमिक विकासका कारण बनीं और सारी पृथ्वी जड पड़ी रहती जैसा कि बहुत-से ग्रह अब भी पड़े हुए हैं तो क्या हानि थी ? मनुष्यका अवतरण जैसी एक भीषण क्रान्ति, जो आगे चलकर सारी क्रान्तियोंका कारण बनी—क्या एकमात्र संयोगकी बात है ? क्या इस विकासमें मनुष्यका अपना कुछ भी कृतित्व नहीं है ? क्या यह सब निरुद्देश्य है ? यदि ऐसा ही है तो फिर मनुष्य-जीवनमें ही उद्देश्यकी स्थापना क्यों की जाय ? जब मानव जडका ही एक रूप है तो मानव-जीवनकी महत्ता ही क्या रही ? जब मानवको यह शरीर उसके पूर्वजन्मकृत सुकृतका फल न होकर केवल संयोगवश प्राप्त हुआ है तो उससे यह छीन लेनेमें कौन-सा पाप है ? परलोकवादको न माननेवाले और नैतिकताके समर्थक यह कहा करते हैं कि 'मनुष्यको अपने पाप-पुण्योंका फल इसी जन्ममें मिल जाता है।' ऐसा भी हो, परंतु इतना तो वे भी स्वीकार करेंगे कि हमें अपने पाप-पुण्यका फल तत्काल नहीं मिलता। परिस्थिति, दूसरोंकी चेष्टाके अतिरिक्त इसमें हमारी चेष्टा भी एक बहुत बड़ा कारण होती है। प्रयत्न करनेपर हम अपने पापकर्मोंके फलको कुछ और समय तकके लिये टाल सकते हैं और जब कुछ समय तकके लिये टाल सकते हैं तो जीवन-पर्यन्त भी टाल सकते हैं। केवल परलोकवादी ही धर्मपर स्थिर रह सकता है; क्योंकि वह समझता है कि यदि पाप-कर्मका फल आजीवन टाल भी दिया तो उसे परलोक या अगले जन्ममें भोगना पड़ेगा, अतः वह पाप करनेका और यदि पाप बन गया तो उसके फलको टालनेका प्रयत्न नहीं करता। जब कि जडवादीकी सारी चेष्टा यही रहती है कि जिन पापोंसे अपने स्वार्थकी पूर्ति होती है, उन्हें इस प्रकार करो कि जिससे उनका फल न भोगना पड़े। इसी प्रकार पुण्यकर्म करनेके पश्चात् उसका फल प्राप्त करनेके लिये भी जडवादी बहुत उतावला रहता है; क्योंकि पुण्य-कर्मका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जडवादी समझता है कि यदि इसी बीचमें मेरी मृत्यु हो गयी तो वह पुण्यकर्म निष्फल गया। परलोक-वादी ऐसा नहीं मानता। वह समझता है कि इस जन्ममें न सही, अगले जन्ममें फल अवश्य मिलेगा। नैतिक आचरणके पक्षमें जडवादियोंका कहना है कि हमें जनताको यह समझाना चाहिये कि हमारे पुण्य-पाप कर्मोंका फल हमें भले ही न मिले, वह हमारे समाज, जाति, राष्ट्र, मानवता तथा भावी पीढ़ियोंको अवश्य प्राप्त होगा। यह ठीक है कि कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति कर्म करते समय उसके परिणामको न केवल व्यक्तिगत, अपितु पारिवारिक, सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय तथा भावी पीढ़ियोंकी दृष्टिसे भी सोचता है; परंतु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि ये सारे पारिवारिक, सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय तथा भावी पीढ़ीगत स्व—व्यक्तिगत स्वके ही विस्तार हैं और जबतक मनुष्यकी समझमें यह न आ जाय कि उसके पाप-पुण्य कर्मोंका फल उसके व्यक्तिगत

1. एक विशेष प्रकारके केकड़ों (horse shoe crabs) की जाति ऐसी पायी जाती है जिनकी शारीरिक रचनामें पिछले १० करोड़ वर्षोंसे रञ्चमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ और न उनमें योन्यन्तरका ही कोई लक्षण देखा गया। (वाल स्ट्रीट जर्नल-न्यूयार्क १६। १। ६२)

स्वको भी अवश्य प्राप्त होगा, तबतक नैतिकताके लिये कोई भी सुदृढ़ आधार नहीं मिलता। जडवाद नहीं, परलोकवाद ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय, मानवतागत तथा भावी पीढ़ीगत सभी 'स्व'में समन्वय स्थापित करता है और बतलाता है जो बात विशालसे विशालतर स्वके लिये लाभदायक है, वह व्यक्तिगत स्वके लिये भी लाभदायक है। इस प्रकार आत्मा और परलोकका अस्तित्व न माननेसे नैतिकताकी जड़ें हिल गयी हैं। सं० रा० अमेरिकाकी 'प्लेन ट्रुथ' नामक मासिक-पत्रिका एक साथ कई स्थानोंसे कुल १५ लाख प्रतिमास छपती है। इसके सिडनी, न्यु साउथ वेल्स (आस्ट्रेलिया) से प्रकाशित नवम्बर, ६८ के अङ्कके अनुसार सारे पश्चिममें अपराधोंकी संख्या द्रुत गतिसे बढ़ रही है। अकेले सं० रा० अमेरिकामें १९६० की अपेक्षा १९६७में अपराधोंकी संख्या ८९ प्रतिशत अधिक है, जब कि इसी बीच जनसंख्या केवल १० प्रतिशत बढ़ी है। हत्या, बलात्कार और सशस्त्र डकैतियोंमें भयानकरूपसे वृद्धि हो रही है। फलतः अमेरिकामें युवा स्त्रियाँ रात्रिमें अकेले बाहर जाती घबराती हैं और कहीं-कहीं पुरुष भी। 'वालस्ट्रीट जर्नल'न्यूयार्कके १५।४।५९ वाले अङ्कके अनुसार एक सर्वेक्षणमें ४० प्रतिशत अमेरिकनोंने स्वयं बतलाया कि वे करोंकी चोरी करते हैं। जडवादकी किसी भी प्रकार नैतिकतासे संगति नहीं बैठती। उनकी सारी सुन्दर शब्दावली-विश्लेषणके पश्चात् ढोलकी पोल मात्र रह जाती है। जब मानव जडका ही एक रूप है तो फिर जडसे अधिक उसका महत्त्व क्यों? रही सुसंस्कृत मनकी बात तो सुसंस्कृत मन तो वही कहा जायगा जो सारे विश्वको 'सीयराममय' जानकर युगपत् नमस्कार करता है, न कि वह जो अपनेको भी जड मानकर चलता है। एक विकासवादी भावी पीढ़ीकी भी चिन्ता क्यों करे? जब हमारे पूर्वज जड, मत्स्य और वानरोंने भावी पीढ़ियोंकी कोई भी चिन्ता किये बिना और न उनमें इस प्रकारके चिन्तनकी कोई क्षमता ही थी, अपनी भावी पीढ़ियोंको मानव बनाकर दिखला दिया तो हम भावी पीढ़ियोंकी चिन्ता करके क्या इससे भी अच्छे परिणाम दिखला सकेंगे? जीवनमें सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हमारा अपना जन्म है। व्यक्तिगत दृष्टिसे और सामूहिक दृष्टिसे मनुष्यका पृथ्वीपर अवतरण। यदि जन्म नहीं तो, कुछ भी नहीं; और यदि पृथ्वीपर मानव अवतरित न हुआ होता तो कुछ भी न होता। और यही जन्म हमारे अपने पाप-पुण्यका फल न होकर केवल संयोगमात्र है और यही पृथ्वीपर मानवका अवतरण उसके पूर्वजोंकी योजना तथा पुरुषार्थका परिणाम न होकर प्रकृतिकी एक चेष्टामात्र है तो हमारे सारे पुरुषार्थ एवं प्रयासका क्या मूल्य रह जाता है? इस प्रकार जडवादकी पुरुषार्थसे भी संगति नहीं बैठती। फिर यह जडवाद यह भी नहीं बतलाता कि जब अनादिकालसे सृष्टि जड चली आ रही थी तो यकायक यह रचना क्यों आरम्भ हो गयी? क्या पहले भी ऐसी कोई रचना आरम्भ होकर नष्ट हुई है? नहीं नष्ट हुई तो वह कहाँ है? और यह विकास कबतक चलता रहेगा? इसकी कोई अन्तिम परिणति है या नहीं? तो वह क्या है? विकासवाद अन्तिम सत्य नहीं है। अधिक-से-अधिक वह एकदेशीय सत्य हो सकता है। अन्तिम सत्य तो आर्यदर्शन है, जिसमें उचित स्थान विकासवादको भी मिला है और आत्मा एवं शरीरकी पृथक् सत्ता तथा पुनर्जन्म सभी आर्य मनीषियोंने स्वीकार किया है और आर्योंके अतिरिक्त अनेक अनार्य महापुरुषों और जातियोंने, जिनमेंसे कुछके नाम नीचे दिये जाते हैं—

१—पाइथागोरस प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक एवं गणितज्ञ। (सर्वविदित)

२—हेनरी फोर्ड प्रसिद्ध अमेरिकन धनकुबेर एवं मोटर उद्योगपति। (ला० सन्तराम बी० ए०, 'सरस्वती'में)

३—अरबका शियाकवि कुत्तअयिर। ('इस्लामिक कल्चर' ले० जी० खुदाबख्श पुस्तकालयवाले)

४—मुसल्मानोंका राविन्दया नामक सम्प्रदाय। १४१ हिज्री (७१९ ई०) में मन्सूर (एक खलीफा) को फिर्के राविन्दयाकी शोरिशको दबाना पड़ा। यह फिर्का तनासुख, (पुनर्जन्म) का कायल था। ('मुकम्मिल तारीखे इस्लाम' ले० मुफ्ती शौकतअली फहमी)।

५—गाल जाति वर्तमान आयर्लैंण्डवासियोंके पूर्वज। इनमें सतीकी प्रथा भी थी। (मैकेञ्जी डी० ए०)

६—इंगलैंडके वेल्स प्रदेशके निवासियोंके पूर्वज जो पुनर्जन्म, निर्वाण, वेदान्त, ज्योतिष और देवी-देवताओं तथा यज्ञमें विश्वास रखते थे। इनका कहना था कि— "You lived and died many times until you were washed clean of human ills and mental impurity.' (जबतक मनुष्य पाप और

वासनाओंसे मुक्त नहीं हो जाता तबतक वह बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है ।) यह जाति बड़ी विद्याव्यसनी थी । इनके बड़े-बड़े पुस्तकालय एवं विद्यालय थे । लगभग ४००० वर्षतक इस जातिकी तूती बोली । जब रोमन लोगोंने (६० ई० पू० लगभग) इनपर आक्रमण करके इनके पुस्तकालय तथा विद्यालय फूँक डाले और इनका हत्याकाण्ड आरम्भ कर दिया तो ये नारवे तथा आइसलैंड भाग गये । ये लोग अबसे ६००० वर्ष पूर्व दक्षिणी एशियासे चलकर मिश्र, यूनान, फ्रांस होते हुए इंगलैंड पहुँचे थे । (अमेरिकन-पत्रिका 'हालिडे'के मई १९५१ वाले अङ्कमें जी० रिचर्ड लेवेलिनका 'वेल्स' नामक लेख) ।

आत्मस्वीकृति क्यों और किसलिये ?

(लेखक—श्रीअजेन्द्रनाथ ठाकुर, एम्० ए०, एल्-एल्०बी०, सा० र०)

एक निश्चित परिवेशके भीतर रहकर हर व्यक्ति अपने आस-पासकी दुनियाको देखता और समझता है और संसारके प्रति एक निश्चित धारणा उसके मनमें आ जाती है । भौतिक पदार्थोंके एकत्रीकरणका नाम दुनिया नहीं है । संसार उसी समय संसार कहलाता है, जब कोई एक सूत्र इन पदार्थों तथा हमारे बीचका सम्बन्ध जोड़ देता है । योगदर्शनमें इसे 'चित्तवृत्ति' का नाम दिया है । हमारे सारे आपसी सम्बन्ध इसी चित्तवृत्तिपर आधारित हैं । इन्हीं सारे आपसी सम्बन्धोंका नाम 'संसार' है । जिस दिन यह चित्तवृत्ति नष्ट हो जाती है, उस दिन दुनिया समाप्त हो जाती है ।

जीवनकी जटिलताओंपर विचार करते समय इस तथ्यको कदापि नहीं भुलाया जा सकता कि हमारी चित्त-वृत्तियोंके खेलने हमें किस प्रकार ढाल दिया है । आजके जमानेमें हर व्यक्ति अपने-आपको जटिल, बोझिल और असहाय समझता है अथवा उसे ऐसा समझना पड़ रहा है । आपसी सम्बन्धोंमें अविश्वास, संदेह, ईर्ष्या और भयने अपना घर बना लिया है । ऐसा क्यों है ? व्यक्तिकी भावनाओंको समझने-सुधारने आदिके लिये मनोवैज्ञानिकोंने न जाने कितने-कितने सिद्धान्तोंकी परिकल्पना की है । पर इन परिकल्पनाओंसे किसीकी समस्याका समाधान न हुआ । आदमी अपने जीवनमें एक शिथिलताका, एक असारताका अनुभव क्यों करता है ? उसे ऐसा क्यों लगता है कि लोग उसे नहीं समझ पाते और उसके प्रति भ्रान्त धारणाएँ क्यों बना लेते हैं ? ऐसा क्यों होता है कि हर व्यक्ति दूसरेके बुरे पक्षको झटसे पकड़ लेता है और अच्छाईको दृष्टिसे ओझल कर देता है ?

कहना चाहिये कि 'व्यक्ति' एक नहीं, तीन होता है । हर एक व्यक्तिमें तीन-तीन व्यक्ति शामिल होते हैं । पहला वह जो हम अपने आपको समझते हैं, दूसरा वह जो दूसरे लोग हमें समझते हैं और तीसरा वह जो हम वास्तवमें हैं । इन्हीं तीन व्यक्तियोंका समूह एक व्यक्ति है और विडम्बना तो यह है कि हम अपने-आपको जिस प्रकार समझते हैं, वैसा दूसरा हमें नहीं समझता और हम वास्तवमें जिस प्रकारके हैं, वैसा हम अपनेको नहीं समझ पाते और तभी संघर्ष शुरू होता है । मनकी भावनाएँ जटिल होती जाती हैं और नाना प्रकारकी गुत्थियाँ मनमें पैदा होने लगती हैं । हम जिस कामको उचित समझकर करते हैं, उसे दूसरा व्यक्ति अनुचित समझता है और वह हमारी आलोचना करता है । उसके मनमें हमारे प्रति एक निश्चित धारणा पैदा हो जाती है । यह हमारा दूसरा रूप है । तो हर व्यक्तिके मनमें हमारे प्रति अलग-अलग एक धारणा हो जाती है और इस प्रकार हमारे हजारों रूप हो जाते हैं ।

जहाँ हमारे स्वार्थों, व्यक्तिगत विचारों और धारणाओंसे संघर्ष हुआ कि तभी यह सोचना पड़ता है कि दुनिया कितनी कठोर है, लोग कितने निर्दय और असहिष्णु हैं और कितने सीमित तथा स्वार्थी हैं ? और तब एक निराशाका जन्म हमारे मनमें होता है । दुनियाके अन्य संघर्षोंसे हम बच-कर निकलना चाहते हैं । किंतु इससे छुटकारा सम्भव नहीं होता । दुनियाकी चीख-पुकार हमारा पीछा नहीं छोड़ती और छायाकी तरह वह हमारे साथ हमारी नींदमें भी लगी रहती है । ऐसी अवस्थामें आदमी आत्मपीड़ित हो जाता है । उसकी आत्मा मरने लगती है, उसका आत्मविश्वास लुप्त-सा हो जाता है और वह अपने-आपको ही प्रताड़ित करते

रहता है। यह आत्मप्रताड़न मृत्युसे भी भयानक होता है। आदमी घुट-घुटकर जीता है और उसका जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। यह तनाव दूर कैसे हो ?

ऊपर यह बताया गया कि हर व्यक्तिमें तीन व्यक्ति होते हैं और वास्तविक व्यक्ति वही है, जैसा कि हम वास्तवमें हैं, न कि हम अपने-आपको जैसा समझते हैं या दूसरे हमें जैसा समझते हैं। पर कठिनता तो यह है कि हम वास्तवमें कैसे हैं—इसे कैसे जाना जाय ? और जान भी लिया जाय तो लोगोंको कैसे समझाया जाय ? भाषासे या शब्दोंसे—इस स्वरूपको नहीं समझाया जा सकता। यह प्रकट होता है हमारे कार्यकलापोंसे, विचारोंसे और दूसरोंकी भावनाओंको हृदयंगम करनेसे। और यह शक्ति उसी समय आ सकती है, जब हम इस स्थितिको स्वीकार कर लें अर्थात् और यह समझनेकी आदत बना डालें कि हम जिस परिस्थितिमें हैं, वह हमारे अनुकूल है, न कि प्रतिकूल। परिस्थितिको अपने अनुकूल समझनेमें एक बड़ी शक्तिकी आवश्यकता है और यह शक्ति हमारे भीतर ही उत्पन्न हो सकती है न कि किसी दूसरेसे प्राप्त होती है। यह कहने और सुननेमें बड़ी अटपटी और अस्वाभाविक-सी बात लगती है कि जिस व्यक्तिका घर-द्वार उजड़ गया हो, नौकरी छूट गयी हो, कानूनके शिकंजेमें फँस गया हो, धन-मान जाता रहा हो—वह आदमी इन सब परिस्थितियोंको अपने अनुकूल समझे ? किंतु यह असम्भव तो नहीं है। अपनी आत्मप्रताड़नाकी ज्वालासे बचनेके लिये, अपने व्यक्तित्वको छिन्न-भिन्न होनेसे बचानेके लिये ऐसा समझना ही एकमात्र उपाय है। परिस्थितिको अपने अनुकूल समझनेका तात्पर्य यह है कि हर स्थितिमें अपनी आत्मस्वीकृतिका अनुभव करना। जब इस प्रकारके अनुभवकी आदत हमारे मनमें पड़ने लगती है, तभी हमारा वास्तविक (जिसे तीसरे व्यक्तिके नामसे कहा गया है) रूप प्रकट होने लगता है। पहले और दूसरे व्यक्तिका आपसी संघर्ष समाप्त होने लगता है। जब यह संघर्ष समाप्त हो जाता है, तभी नाना प्रकारकी घुटन, ग्रन्थियाँ भी दम तोड़ने लगती हैं।

उपर्युक्त संदर्भमें यदि हम विभिन्न धार्मिक आदर्शों एवं शिक्षाओंपर विचार करें तो उनका महत्त्व सामने आने लगता है। एक बहुत बड़ा सिद्धान्त-वाक्य यह है—'अपने आत्माको पहचानो, आत्माको जानो।' यह सत्य है कि यह एक बहुत बड़ा दार्शनिक सूत्र है और इसे समझना कोई आसान काम नहीं है, किंतु यदि हम इसे अपने व्यावहारिक जीवनमें उतारें तो इसका असर कुछ दूसरा ही पड़ेगा। ऊपर जो हमने 'आत्मस्वीकृति' बताया है और यह कहा है कि परिस्थितिको अपने अनुकूल समझना—इसी आत्मानुभवका एक अङ्ग है। इस व्यावहारिक पक्षको हमने भुला दिया है और तभी हम कहते-सुनते रहते हैं कि ये तो कोरे आदर्श वाक्य हैं और जीवनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन ऐसी बात कतई नहीं है। इनका हाथ हमारे जीवनके पहलुओंको सजाने-सँवारनेमें बहुत बड़ा है। मैं अपने एक ऐसे मित्रको जानता हूँ जो मुश्किलसे मिली नौकरीसे निकाल दिया गया। बहुतोंने इसके लिये उस मित्रको ही दोष दिया। हो सकता है कि उसकी भी कहीं गलती रही होगी। इसका उस मित्रको बड़ा ही सदमा पहुँचा। नौकरीमें पुनः आ जानेके लिये अनेक सिफारिशोंका सहारा लिया, कई लोगोंसे मिल-जुलकर उच्चाधिकारियोंसे उसने पहुँच की, पर कुछ न हुआ और आखिर वह निराश होकर चुप रह गया। पर बात-ही-बातमें उसने मुझे बताया कि उसने कभी भी धर्म या ईश्वरको गम्भीरतासे नहीं लिया था, जितना कि वह अब नौकरी छूट जानेके बाद ले रहा है। अब उसे यह अनुभव होता है कि अशान्त मनको शान्त करनेका एकमात्र यही उपाय है। मेरे मित्रने जो कहा इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि वह जीवनसे बिल्कुल निराश और दुखी हो गया है, इसीलिये भगवान्को वह याद कर रहा है। कोई निराशाकी भावना उसमें नहीं थी, वरं एक नयी आशाकी भावनाने उसके मनमें जन्म लिया था और वह भावना थी—'हर परिस्थितिमें अपनी आत्मस्वीकृति।' यदि इस प्रकारकी भावनाका जन्म मेरे मित्रके मनमें न होता तो वह शायद अपनी मानसिक व्यवस्थाका संतुलन खो बैठता। हीनभावनाका वह बुरी तरहसे शिकार हो गया होता। किंतु उसने अपने-आपको सँभाल लिया और सही आदमी बना लिया।

हम अपने हर काममें भले असफल हो जायँ, लेकिन अपने-आपको सही आदमी बनानेके काममें कभी असफल न हों और इसके लिये धर्म, विश्वास या श्रद्धा—हमारी सहायताके लिये आती है। धर्म मरुस्थलमें हरित भूमि है।

जीवनकी यात्रा, वीरतापूर्वक यात्राके लिये धर्म एक महान् संबल ही नहीं वरं मूलाधार है। अपने जीवनको पूर्ण बनानेके लिये, व्यक्तित्वको संगठित और सामञ्जस्यपूर्ण बनानेके लिये यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि हम परिस्थितिको स्वीकार करते हैं और इस प्रकार आत्म-स्वीकृतिके सिद्धान्तको अपनाते हैं।

आपसे उनकी हालत खराब है

(मुसीबतोंमें मार्ग बनाइये)

(लेखक—श्रीलालमणिप्रसादजी गुप्त)

लोग प्रायः यही कहते-सुनते पाये जाते हैं—'हमसे तो अमुक अच्छी हालतमें है। अच्छा पहिराव है, अच्छा मकान है तथा समाजमें अच्छा स्थान है' इत्यादि। और अपनी सम्पत्तिसे, अपने परिवारसे और सम्मानसे असंतुष्ट हैं। इसका एकमात्र कारण है—'असंतोष' तथा नयी-नयी कामनाएँ, जो कभी पूरी होती ही नहीं हैं। बल्कि जो आपके इतने सुन्दर जीवन और इतनी सुन्दर देहको समाप्त होनेके उपरान्त भी अगले अनेक जन्मोंतक भी जीवित रखनेके लिये आपको बार-बार नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेपर विवश कर देती हैं।

आप सदा दूसरोंको बढ़ते देखकर—चाहे वह मेहनतकी पसीनेकी कमाईसे बढ़ा हो अथवा काले-बाजारकी कमाई-से—अपनेको कोसते रहते हैं। रात-दिन, गली-कूचोंमें, यार-दोस्तोंमें, गुरु-शिष्योंमें यही रोना रोते रहते हैं—अजी, अमुक मेरे ही साथ पढ़ा, मेरे साथ बढ़ा और मेरे आगे उसकी हालत कितनी गिरी थी, उसकी क्या दशा थी इत्यादि। उसकी पुरानी और नयी दशाका बयान करनेमें न हिच-किचाते हैं और न थकते ही हैं। मालूम होता है जैसे इसी उल्था-पुराणमें आपको उसकी वह समृद्धि अनायास ही मिल जायगी।

सही सच्चे अर्थमें तो समृद्धि (जैसा कि विश्वके समस्त धर्मशास्त्रों, वेद, पुराणों आदि ग्रन्थोंमें सुझाया है कि) न्यायपूर्वक साधनसे प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि मेहनत—पसीनेकी कमाईसे आपमें निडरता, साहस, खरापन और मितव्ययिता तथा स्पष्टताकी भावना उत्पन्न होगी, जब कि इसके ठीक विपरीत हराम, बेईमानी तथा अनीतिकी कमाईमें कठोरता, निर्दयता, फिजूलखर्ची, अपव्ययता, भीरुता, कायरता, दब्बूपन अर्थात् दुनियाभरके अपवाद ही पनपेंगे, जो केवल आपको ही नहीं, आपके पूरे परिवारके मानस-मन्दिरको उद्वेलित तथा प्रकम्पित करते रहेंगे।

आप नित्य-प्रति अपने आस-पास, पास-पड़ोस, ग्राम-नगर, शहर-जिला तमाम जगहों, नौकरी-पेशा, मेहनत-मजदूरी करनेवाले अथवा कोई भी क्षेत्र हो, यदि अन्याय-पूर्ण साधनसे अर्जित किया हुआ धन होगा तो चाहे वह कुछ देरके लिये चमक जाय, पर वह कभी स्थिर नहीं रह सकता। जैसा कि कहा जाता है—'चार दिननकी चाँदनी, फिर अँधेरी रात।' यह बात निश्चित है। जिसके लिये हमारा भारतीय नीतिशास्त्र कहता है कि 'अनर्थके धन अथवा अनैतिक धनकी आयु दस वर्ष होती है तथा उस धनका ग्यारहवें वर्षमें निश्चित नाश हो जाता है।'

प्रायः लोग कहा करते हैं कि 'नीति-बीति सब बकवास है।' पर ऐसा वे ही व्यर्थके बकवादी, जिन्हें अपनी संस्कृतिका 'क-ख-ग' नहीं मालूम है, जो सत्संगमें कभी पहुँचे ही नहीं हैं, अथवा निरे आडम्बरकी नकलमें तल्लीन हैं, कहते हैं। उन्हींका कहना है कि 'आजका युग तो चोरी-बेईमानी, ब्लैक-मार्केटिंग तथा छल-कपटवालोंका ही है। नाजायज धन ही आजकल रहता है।' पर यह कोरा भ्रम है। वह धन कहीं कुछ दिन रहता भी है तो उस कमाने-वालेके हाथ नहीं लगता। वह प्रायः नाजायज हथकंडोंमें ही व्यर्थ खर्च हो जाता है। उसकी संतानें कभी स्थिर नहीं होंगी। वे दुर्गुणोंसे पूर्ण, उच्छृङ्खलताओंसे भरी-पूरी और निकम्मी होंगी, जो उस व्यक्तिको आजीवन कराहनेपर ही विवश करेंगी। जिसका परिणाम यह होगा कि उसने जिस प्रकार अनीतिसे धन अर्जन किया, उसी प्रकार वह घोर अशान्ति तथा अनन्त चिन्ताओंके बीच ही दुःखपूर्वक शरीर त्यागेगा।

समाजमें आप नित्यप्रति देखते ही हैं कि कितने लोग, जो प्रायः इसी कोटिमें आते हैं, समाजके कर्णधार, मुखिया तथा उच्च पदोंको सुशोभित कर रहे हैं, जिनकी काली-करतूतोंके कारण समाजका उत्थानके स्थानपर पतन होता

जा रहा है। मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि सारा समाज ही ऐसे दुराचारियों अथवा बगुला-भक्तोंसे भरा है। हमारे समाजमें आज भी बड़े-बड़े विद्वान्, आध्यात्मिक विचारवाले, कर्मठ, न्यायशील, सत्यवादी, विनयसम्पन्न पुरुष भरे हैं। परंतु इस आधुनिकताके अंधड़में अंधे लोगोंके बीच उनकी कद्र इने-गिने लोगोंतक ही सीमित होती जा रही है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रायः सभी उच्चासीन व्यक्ति ऐसे नहीं हैं। कहीं-कहीं अच्छे चरित्रवाले भी प्राप्त-पदका निर्वाह करनेवाले पाये जाते हैं। जिनसे उनका वह पद, मान और स्थान उचित रीतिसे, आदर्शरूपसे निवह पाता है और जिससे समाजमें उनके प्रति आदर, सम्मान, श्रद्धा पनपती है। समाज प्रसन्नता और आश्वासन प्राप्त करता है।

आप अपने अर्थ-संकटको ही क्यों रात-दिन कोसते रहते हैं। माना कि आपपर परिवारके भरण-पोषण, शादी-विवाह, जीवन-मरण, आमन्त्रण-निमन्त्रण इत्यादि भाँति-भाँतिके खर्चोंका, कभी बीमारीका, कभी बच्चोंके विवाह आदिका, बच्चोंकी पढ़ाईका, आपके व्यापारका, आपकी रोजी-रोटीका आदि नाना प्रकारके भार हैं और इस जंजालके सुलझनेका साधन पैसा है। परंतु याद रखिये, उपर्युक्त सभी कार्योंका निर्वाह उच्चविचारयुक्त सादे-सीधे जीवनमें समझदारीके साथ अपनी औकातमें रहते हुए चलनेसे सुखपूर्वक हो सकता है। इस गृहस्थीरूपी गाड़ीको धीर-वीर, सहनशील, विचारवान् पुरुष सुदृढ़ बैलकी भाँति लगन रहनेपर खींचकर पार ले ही जाता है। बैल तो वही मार खाता है, जो कीचड़को देखते ही दूरपर ही अड़ जाता या बैठ जाता है। कीचड़को देखकर डरना तो निरी बेवकूफी है। वैसे ही आनेवाले झंझटोंको, उनके आगमनके पूर्व ही अपने मनमें कपोल कल्पित तिलका ताड़ बना लेना और उनका गुनना करना, मनमें व्यर्थ विषाद या भय रखना भी निरी नासमझी ही है। इन्हें इस प्रकारसे अपनेमें डुबोकर इनसे पार हो जाना चाहिये। अर्थात् आपको चाहिये कि विपत्तियोंमें आप प्रथम डूबें, फिर उनमें विवेकसे हाथ-पैर मारते हुए उनको पार कर जायँ। फिर आप पायेंगे कि विपत्तियाँ आपकी केवल परीक्षा लेने ही आयी थीं और व्यर्थ ही उनकी काल्पनिक भयंकर धारणा करके आप भयभीत हो रहे थे।

इसी प्रकार आप-सरीखे बलवान् ईश्वरपुत्रको, जिसको उसने क्या नहीं दिया है; कभी हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। क्या आपने कभी कल्पना की है जिसके पास केवल लक्ष्मी (नकद) मात्र है, वह कभी विद्वान्, पहलवान, पण्डित हुआ है ? बल्कि हुआ है परिश्रमी। इस श्रेणीपर वे ही लोग पहुँचे हैं जो मध्यम और निर्धन होनेपर भी जिनमें लगन, साहस और उत्साह रहा है।

आपके पास आपकी जितनी निधि है, उसे सर्वप्रथम संजोइये तथा अपनी मानसिक शान्तिको स्थिर कर उसपर अडिग रहते हुए अपने संकल्पित लक्ष्यको पूर्ण करनेकी इच्छा लिये हुए आगे बढ़ते रहिये। दूसरेकी अट्टालिकाओंको व्यर्थ निहारकर अपनी अमूल्य दृष्टिको न थकाकर अपनी स्वर्णकुटियाको बारीकीसे देखिये, जो गरमीकी मौसममें ठंढक तथा जाड़ेमें उष्णता अनायास ही प्रदान कर आपको आनन्द प्रदान करती है। निरखिये—आपके मोटे धागोंसे बुने और मानवके सौहार्दपूर्ण करोंसे निर्मित उस मारकीन तथा खादीके बने बेशकीमती कपड़ों, परिधानोंको जो आपको व्यर्थके दिखावेसे दूर रखते हुए बिना मोल स्वदेशाभिमानका सबक देते हैं। जाड़ेमें आपको गरम रखते हैं और चिलचिलाती धूपमें शीतलता प्रदान करते हैं। निरखिये—आपके कलेजेके उन टुकड़ोंको, छुनुवा-मुनुवा-मुनियाको, जो आपके थके हुए मन-प्रान्तरके कोने-कोनेको जरा-सी मृदु मुस्कानसे, जरा-सी तोतली बोलीसे और पोपली हँसीसे हरा-भरा, बाग-बाग कर देते हैं। आपकी प्रतीक्षामें रत पलक-पाँवड़े बिछाये आपकी प्राणप्रियाकी मुस्कराहट, आपकी दिनभरकी आशङ्काओं और चिन्ताओंको अनायास ही हरण करनेमें सक्षम है। आपके पड़ोसीका आपको 'भाईसाहेब'की रसभरी, भले ही रूखी बोली हो, आपके अपनत्वको, एकताको, अपनेपनेमें एक कड़ी जोड़कर आपको निहाल कर देती है। फिर आपको क्या चाहिये ? आप व्यर्थ ही दूसरोंके उलझनपूर्ण रवैयोंसे क्यों परेशान होते हैं ?

आइये, उस पुनीत कर्तव्यका मार्ग अपनाते हुए अपने कर्मद्वारा भगवान्की सच्ची पूजा करते हुए अपने उस उन्नतिपथको प्रशस्त करें और संसारके सबसे महान् धनियोंसे आगे बढ़ें, जो पथ कितना उद्दीप्त तथा उत्साहवर्धक और शान्तिप्रदायक है।

विभूति-रहस्य

(लेखक—तान्त्रिकशिरोमणि श्रीनथमलजी दाधीच, कौलाचार्य)

योग सिद्ध होनेपर साधकको नाना प्रकारकी विभूति प्राप्त होती है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'जितेन्द्रिय, स्थिर-चित्त-प्राण एवं मुझमें चित्त लगानेवाले योगीमें सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं।' हमलोग कल्पनासे जिन वस्तुओंका ध्यान करेंगे, योगबलसे वे सब हमें प्राप्त होंगी। विवेचना करनेपर मालूम होगा कि ऐसा होना असम्भव नहीं है। मानव जब परमात्माका अंश है, तब उसके गुण उसमें रहने आवश्यक हैं। जो भेद है, वह स्थान-देशकी उपाधिके कारण है। मेघका जल एक होनेपर भी नदी, सागर तथा कूपके जलमें एक विशेष भेद स्थानकी उपाधिके कारण रहता है। मनुष्य-शरीरमें आबद्ध आत्माका एक भाव है और बाहर एक भाव है। किंतु योगके द्वारा मानव शरीरोपाधिसे विमुक्त होता है, तब उसे परमात्माकी शक्ति प्राप्त होती है। योगका लक्ष्य है कि 'मनुष्यको परमात्मासे एक कर देना।' जब योगबलसे यह साधना कर ली जाती है, तब ईश्वरीय शक्तिका प्राप्त होना असम्भव नहीं है। किसी प्रकार मानव आत्माको प्राकृत भावसे पृथक् कर परमात्मासे संयुक्त कर दे तो वह परमात्माके सामने हो जाता है। योगका यही उद्देश्य है।

शरीरमें पाँच इन्द्रिय प्रधान हैं, जिनको 'ज्ञानेन्द्रिय' कहते हैं। इनके द्वारा समस्त पदार्थोंकी हम अनुभूति करते हैं। किंतु स्वप्नमें इन पाँचों इन्द्रियोंका अस्तित्व न रहनेपर भी सब पदार्थोंका अनुभव होता है। इससे स्पष्ट प्रकट है कि शरीर न होनेपर भी आत्माका अस्तित्व है। स्वप्नमें हम एक और वस्तु देखते हैं। वहाँ मनुष्यको दूर-दृष्टि या भविष्य-ज्ञान होता है। जो घटना भविष्यमें होगी, उसको भी हम पूर्वमें जान लेते हैं। यह एक पूर्व अनुभव है। इससे समझा जाता है कि शरीरसे आत्माका कुछ अंशमें विच्छेद होनेपर शक्ति-वृद्धि होती है। अतः योगबलसे इस क्रियाके सम्पन्न कर लेनेपर परमात्मशक्ति प्राप्त करना असम्भव नहीं है।

योगविभूतिलाभ योगकी सम्पूर्ण साधनाके बाद प्राप्त हो, ऐसी बात नहीं है। योग-प्रक्रियाके साथ ही एक-एक क्षमताका लाभ होने लगता है। प्रथम साधनाके साथ ही कई प्रकारकी क्षमताकी प्राप्ति होती है। आसन-साधनासे भी कितनी ही शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। प्राणायाम सिद्ध होनेपर मानवको विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगका उद्देश्य मुक्ति है; किंतु इस मुक्ति-लाभके बहुत पूर्व ही सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह शक्ति-लाभ इतना मनोरम है, इतना लाभप्रद है, इतना सुखदायक है कि योगी लोग इन सारी क्षमता एवं शक्तिका लाभ करके योगके मुख्य उद्देश्य मुक्ति-तकको भूल जाते हैं और इन शक्तियोंके प्रति लालायित हो योगभ्रष्ट हो जाते हैं। कोई एक शक्ति प्राप्त कर, कोई दो और कोई इससे ज्यादा शक्ति प्राप्त कर योगभ्रष्ट हो जाते हैं। उनको मुक्तिलाभ नहीं होता। संसारमें ये लोग योगलब्ध एक-दो शक्तिका व्यवहार कर योगसे बाजीगरकी तरह लोगोंको आश्चर्यान्वित कर प्रायः अर्थ-उपार्जन करते हैं। अतः मुमुक्षु साधक इस शक्तिलाभको योगका चरम फल न मान बैठे। योगका चरम लक्ष्य मुक्ति है। यदि साधक इन विभूतियोंके चक्करमें आ गया तो उसे मुक्तिसे वञ्चित होना पड़ेगा। जो साधक शक्ति प्राप्तकर प्रतिपत्तिकी आशा करता है, उसको प्राणायामतक साधन ही करनेका है। प्राणायाम सिद्ध कर संयम लाभ करनेपर बहुविद्यासिद्धि प्राप्त हो सकती है। उसके बाद धारणा-ध्यान-समाधिके द्वारा मुक्तिलाभ होता है।

योगसाधनाके द्वारा साधक अन्तर्बहिर्जगत्का हाल जान सकता है। समस्त रसका आस्वादन कर सकता है। बाहरी जगत् और भीतरी जगत्पर असाधारण कृतित्व करनेकी अलौकिक क्षमता प्राप्त कर सकता है। उस क्षमतासे योगीमें अनेक प्रकारकी अद्भुत अभावनीय शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं, जैसे इच्छानुसार गमनागमन, दूरदृष्टि, दूर-श्रवण, सूक्ष्मदर्शन, परशरीर-प्रवेशन, अन्तर्धानत्व, अन्तर्यामित्व, शून्यपथमें अविरोध अनायास गमन, कायव्यूहधारण, अणिमादि अष्टसिद्धिलाभ, मृत्युज्ञान तथा देवत्वलाभ आदि।

योगके आरम्भसे पूर्णताकालतककी चार अवस्थाएँ हैं। १. कल्पि, २. मधुमति, ३. प्रज्ञाज्योति और ४. अतिक्रान्त भावनीय। योग आरम्भ करनेपर जिस समय अधिक सिद्धि

नहीं मिलती, संयममें रत रहकर भी विशेषरूपसे कार्य सम्पादन नहीं होता है, तब उसको प्रथम 'कल्पि' अवस्था कहते हैं। उस समय योगी संयम-कालमें विशेष कोई अलौकिक कार्यका दर्शन नहीं कर सकता। केवल अत्यन्त अल्प आलोक सामान्यमात्र ज्ञानका प्रकाश होता है। इस अवस्थाके उत्तीर्ण होनेके बादकी जो अवस्था है, उसका नाम 'मधुमति' है। इस अवस्थामें उपनीत होनेपर योगी इन्द्रियगणको अपने अधीन, सर्वतोभावेन अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञता लाभ करता है। इसके बादकी अवस्थाका नाम 'प्रज्ञाज्योति' है। इस अवस्थामें देवतासिद्धिका साक्षात्कार होता है। चतुर्थ 'अतिक्रान्त भावनीय' अवस्था है। इसमें योगी विवेकज्ञानसम्पन्न होता है। संसारसे विरक्त एवं जीवन्मुक्त होता है। केवल विभूतिलाभ या लौकिक सिद्धि प्राप्त करना ही जिनका लक्ष्य है, योगमार्गमें संयम उनके लिये प्रधान साधन है। संयम क्या है ? ध्यान, धारणा, समाधि। जब साधक वस्तुके बाहरी भागको परित्याग करके उसके अन्तरभागके साथ मनको एकीभूत करनेपर उपयुक्त अवस्थामें उपनीत होता है, तब दीर्घ अभ्यासके द्वारा मन केवल उसीको धारण करके मृदु-तीक्ष्ण-मध्यमें उसी अवस्थामें उपनीत होनेकी शक्ति प्राप्त करता है, इसीको संयम कहते हैं। संयमके द्वारा साधकके लिये कोई वस्तु असाध्य नहीं है। सामान्य शक्तिसे लेकर महाशक्ति-पर्यन्त सभी कुछ संयमके द्वारा साध्य है। इस समय उसे सामान्यसे महत्, क्षुद्रसे बृहत् तथा स्थूलसे सूक्ष्मका अभ्यास करना होगा। संयम-विजयसे अज्ञानान्धकार दूर होगा। प्रज्ञालोक प्रकाशित होगा। संयमके द्वारा जो विभूति प्राप्त होती है, उसका आभास 'पातञ्जलदर्शन' में दिया गया है।

अनाहत पद्ममें संयम करनेसे अर्थात् इस पद्ममें मनके निरोधसे, दर्शनसे एवं ध्यानसे अणिमादि अष्टसिद्धियाँ—'अष्टैश्वर्य' प्राप्त होता है। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायित्व—ये अष्टसिद्धि—अष्टैश्वर्य हैं। अणिमाका अर्थ है—बड़े शरीरको छोटा बनानेकी शक्ति, महिमाका अर्थ शरीरको या किसी अङ्गको बड़ा बनानेकी शक्ति, लघिमाका अर्थ है—शरीरको लघु या हल्का करना, प्राप्तिका जगत्के समस्त द्रव्य प्राप्त करनेकी क्षमता, प्राकाम्यका दृश्यादृश्य समस्त पदार्थोंके भोग करनेकी क्षमता या दर्शन करनेकी शक्ति, ईशित्वका सबपर प्रभुत्व करनेकी क्षमता, वशित्वका सबको अपने वशमें करनेकी शक्ति, कामावसायित्व—सब प्रकारकी मनोरथसिद्धि अर्थात् सत्यसंकल्प—जैसा संकल्प वैसी ही तुरंत सिद्धि।

संयमावलम्बनसे भूतजयी होनेपर अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति—इन चार ऐश्वर्योंकी प्राप्ति होती है। संयमके द्वारा भूतोंकी स्वरूप-अवस्थाका साक्षात्कार होनेपर प्राकाम्य ऐश्वर्य प्राप्त होता है। भूतोंकी प्रत्यक्ष सूक्ष्म अवस्था होनेपर वशित्व प्राप्त होगा। भूत अन्वयरूपसे दृष्टि होनेपर ईशित्व, रूपजित् होनेपर कामावसायित्व प्राप्त होगा। ईश्वरमें ये ऐश्वर्य स्वतः सिद्ध हैं। जीवको साधनाके द्वारा इनकी प्राप्ति होती है। कोई-कोई इनमेंसे एक, दो या अधिक प्राप्त करता है, कोई समस्त प्राप्त कर ईश्वरतुल्य हो जाता है। समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य 'भग' शब्द-प्रतिपाद्य है। यह षड्विध पदार्थ, जिसमें अप्रतिबन्धरूपसे रहता है, वही भगवान् है। योगी लोग इनके लिये चेष्टा नहीं करते हैं। ये अपने-आप आकर उपस्थित हो जाते हैं। स्वर-शास्त्र मतसे जो साधक बाहर जानेवाले द्वादश अंगुल वायुको आठ अंगुल और आठ अंगुलसे चार अंगुल कर लेता है, वह अष्टैश्वर्य प्राप्त करता है।

अन्य विभूति-सिद्धियाँ पातञ्जलमतसे निम्नाङ्कित हैं, जिनको केवल पाठकोंके लाभार्थ यहाँ दिया जाता है—संयमबलसे धर्माधर्म, पाप-पुण्य, कर्म-संस्कार-साक्षात्कार, पूर्वजन्म-ज्ञान होता है। अर्थात् चित्तसंस्कारोंके प्रति संयम करनेसे पूर्वाचरित कर्म और पूर्वजन्म अवगत होना है। दर्शन-व्यापारमें संयम करनेसे नेत्रशक्ति स्तम्भित होकर साधक अदृश्य हो जाता है। अर्थात् दृश्यके साथ दर्शनेन्द्रियका संयोग, अतः नेत्र और दृश्य-प्रत्ययके बीचमें दृष्टि-स्तम्भन-संयम प्रयोगसे साधक लोकसमक्ष अदृश्य हो जाता है। सिंह, व्याघ्र, हस्ति प्रभृति बलवान् जीवोंके बलमें संयम करनेसे उनके समान बलशाली होता है। सूर्य-संयम करनेसे त्रिलोकका ज्ञान होता है। नाभिचक्रमें संयम करनेसे समग्र शरीरका ज्ञान होता है। ब्रह्मरन्ध्रमें विमल आलोकमें संयम करनेसे सिद्धोंके दर्शन होते हैं। चित्त और शरीरके बन्धका कारण जानकर उसको शिथिल करनेमें परकायप्रवेश

शब्द अर्थप्रत्ययकी आपसमें आरोपजन्य संकरा-रही है। इनकी प्रभेद-शक्तिके ऊपर संयम करनेसे प्राणि-भूतोंका शब्दज्ञान होता है। उदानवायु जय होनेपर साधक जलपङ्क और कण्टकोंमें निमग्न नहीं होगा। प्रातिभज्ञान लाभ होनेपर सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। समान वायु विजयसे तेजको जानता है। हृदयमें संयम करनेसे मनो-विषयका ज्ञान होता है। कर्ण-आकाशका सम्बन्ध ज्ञान करके उनपर संयमसे दिव्य श्रवण-लाभ प्राप्त होता है। कण्ठ-कूपमें संयमसे क्षुधा-पिपासाकी निवृत्ति होती है। क्षण और उसके क्रममें संयमसे वस्तुविवेक विषयका ज्ञान होता है। इन्द्रियगणके ग्रहणस्वरूप अस्मिता, अन्वय, अर्थ आदि पाँच प्रकार रूप या ऐश्वर्य-संयमके द्वारा ये सकल रूपजय अर्थात् प्रत्यक्षकृत होनेपर इन्द्रियजय होता है। अन्यके शरीरपर जो चिह्न हैं, उनको देखकर उनपर संयम-प्रयोग करनेपर उसके मनका भाव जाना जा सकता है। शरीर और आकाशका जो सम्बन्ध है, उसपर संयम करनेसे आकाशमें गमनागमन किया जा सकता है। कर्मनाड़ीमें संयम करनेसे देहका स्थैर्य होता है। प्रारब्धकर्म, संचितकर्म एवं अदृष्ट समूहोंपर संयम करनेसे मरणका ज्ञान होता है। ध्रुव नामक नक्षत्रमें संयम करनेसे नक्षत्रसमूहके स्वरूप और गतिका ज्ञान होता है। उनके अतिरिक्त योगीको काय-सम्पत् प्राप्त होता है अर्थात् रूपलावण्य, बल, वज्रतुल्य देह, वेगशीलता आदि शारीरिक गुणविशेष प्राप्त होते हैं। ब्रह्मज्ञानविहीन व्यक्ति योगके द्वारा इन सब विभूतियोंको प्राप्त कर सकता है। जो साधक परमात्माकी भावना न कर सिद्धिकी वाञ्छा करता है, वह साधनाके द्वारा इन विभूति-योंको प्राप्त करता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञ है, उसको यह अविद्या साध्य नहीं है। आत्मज्ञ व्यक्ति मनकायसे सदा महाशक्तिमें तृप्त रहता है। वह कभी अविद्याकी सेवा नहीं करता। उसके द्वारा सिद्धाई दिखाना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार शक्ति प्राप्त होनेपर भी वह नगण्य है। ज्ञानसे ग्राह्य करके वास्तविक साधक साधनपथमें अग्रसर होता है। उसका लक्ष्य है—कैवल्यकी प्राप्ति। पुरुषकी जब भली प्रकारसे सत्त्वसिद्धि हो जाती है, तभी यह कैवल्यलाभ होता है। जब आत्मा अवगत होता है, तब इस परिदृश्यमान जगत्‌के अणुसे देवता-पर्यन्त किसीके ऊपर भी निर्भर होनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तब उस अवस्थाको 'कैवल्य' या 'पूर्णता' कहते हैं। ह्रीं श्रीरस्तु।

प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे
प्रतिप्रयाणेऽप्यमृतायमानाम्।
अन्तःपदव्यामनु सञ्चरन्ती-
मानन्दरूपामबलां प्रपद्ये॥

ह्रीं तत् सत्। ह्रीं श्रीजगदम्बार्पणमस्तु।
ह्रीं शान्तिः! शान्तिः!! पराशान्तिः!!!

श्रेष्ठ योगी

'योग-विभूति-सिद्धि' अति दुर्लभ, सहज नहीं हो सकतीं प्राप्त।
पर इनसे न 'मुक्ति' मिल सकती, कहते सिद्ध अनुभवी आप्त॥
है अवश्य ही बड़ा विलक्षण यह मुनियोंका योग-महत्त्व।
जान सके वे इसके द्वारा ईश-सृष्टिका सारा तत्त्व॥
इसे छोड़, फिर हुए अग्रसर चिन्मय 'परम-धाम' की ओर।
मिले परम प्रभुमें वे जाकर, हुए 'नित्य आनन्द-विभोर'॥
यही चरम फल श्रेष्ठ योगका, यही योगियोंका नित साध्य।
इसीलिये करते साधन वे, मान एक प्रभुको आराध्य॥
वही 'युक्ततम', जो भजते हैं अन्तरात्मासे भगवान्।
नित्य-निरन्तर हो अनन्य जो, रह प्रभुके प्रति श्रद्धावान्॥

साम्प्रदायिकता क्या है ?

(लेखक—श्रीओम्प्रकाशजी पाण्डेय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०; सा० रत्न)

'साम्प्रदायिक' और 'साम्प्रदायिकता'—इन दो शब्दोंका आजकल बहुत प्रयोग हो रहा है। देशके शीर्षस्थ नेताओंसे लेकर जनसामान्यतकमें इसका प्रयोग बिना जाने-समझे ही प्रचलित है। अर्थ-विस्तारसे अर्थ-संकोचतककी सीढ़ियाँ पार करता हुआ यह शब्द आज अपने मूल-अर्थसे इतना अधिक हट गया है कि उसकी कल्पना भी अब अस्वाभाविक-सी प्रतीत होने लगी है।

'सम्प्रदाय' शब्दकी निष्पत्ति 'सम्' और 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'दा दाने' धातुसे 'घञ्' एवं 'आतो युक् चिण्कृतोः'[1] पाणिनीय सूत्रसे 'युक्' प्रत्यय लगाकर हुई है।

सर्वप्रथम इसका प्रयोग वैदिक-संहिताओंमें दृष्टिगत होता है।[2]

ब्राह्मणोंमें 'शतपथ,[3] ताण्ड्य'[4] एवं 'जैमिनीय'[5] ब्राह्मणमें यह शब्द उपलब्ध होता है। सूत्रकालमें कर्ममीमांसादर्शनके प्रवर्तक महर्षि जैमिनिने भी इसका प्रयोग किया है—'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्।'[6]

उक्त ग्रन्थोंका अनुशीलन करनेके उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ 'सम्प्रदाय'का प्रयोग 'सम्प्रदान'के अर्थमें हुआ है।[7] 'सम्प्रदान' शब्दसे देवताके आवाहनसे लेकर उपस्थानतकके कार्योंकी सूचना मिलती है। 'सम्प्रदाय' शब्दकी पवित्रतापर ही ध्यान केन्द्रित करते हुए अमरसिंहने अपने कोशमें इसके पर्यायरूपमें 'आम्नाय' शब्द प्रस्तुत किया है, जिसका अर्थ (आङ्—म्ना अभ्यासे) 'मर्यादापूर्वक पठित' है। महाकवि माघने भी अपने 'शिशुपालवध' १४। ७९ में इसी अर्थमें इसका प्रयोग किया है।

वेदोंके प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्यके समय (१४वीं शताब्दी)में भी इसका सम्बन्ध शिक्षाके क्षेत्रसे ही था।

उन्होंने 'साम्प्रदायिक' शब्दपर विचार करते हुए कहा है—

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम्॥[8]

अर्थात् अनध्याय-निषेध इत्यादि नियमपूर्वक गुरु-परम्परासे अध्ययन करना साम्प्रदायिक है।

इसे इस प्रकारसे स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे काशी, पूना आदि स्थान संस्कृत-पठन-पाठनकी दृष्टिसे विशेष प्रसिद्ध हैं, वहाँ जाकर संस्कृत पढ़ना साम्प्रदायिक है। इसी प्रकार पन्त-नगरके कृषि-विश्वविद्यालयसे कृषिकी शिक्षा प्राप्त करना भी साम्प्रदायिक कहलायेगा।

समुच्चयात्मक दृष्टिसे कहा जा सकता है कि किसी विशेष विषयकी योग्यतासम्बन्धी अपनी श्रेष्ठताके कारण विख्यात आचार्योंसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करना साम्प्रदायिक है। अंग्रेजीमें इसके लिये 'सेक्टेरियन' (Sectarian) के स्थानपर 'ट्रेडीशनल' (Traditional) शब्द विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है।

भागवतपर 'भावार्थ-दीपिका' टीकाके रचयिता श्रीधर स्वामीने भी भक्तिकी विभिन्न गुरु-परम्पराओंके अर्थमें ही 'सम्प्रदाय' शब्दका प्रयोग किया है—

सम्प्रदायानुरोधेन पौर्वापर्यानुसारतः।

इसमें उनका अभिप्राय भागवत-धर्मके विभिन्न सम्प्रदायोंमें पाञ्चरात्र आदिसे है।

सङ्कुचित मतवादसम्बन्धी दुराग्रहके अर्थमें इसका प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया, यह कहना कठिन है। किंतु इतना निश्चित है कि इस दिशामें बाहुल्य राजनीतिक

---

१. अष्टाध्यायी ७। ३। ३३।

२. काठक-संहिता २३। ५; मैत्रायणी-संहिता १। ५। ७।

३. १। ५। २।

४. १२। १३। २५।

५. ७७।

६. मीमांसासूत्र १। २। ८।

अन्य सूत्र-साहित्यमें प्रयोग—बौधायन श्रौतसूत्र २। १३। १५; जैमिनि श्रौतसूत्र १५। ६; काठक गृह्यसूत्र ६५। २; बौधायन गृह्यसूत्र; कौशिकसूत्र १। ७; बौधायनधर्मसूत्र २। ३। ४४।

७. देखें—'काठक गृह्यसूत्र' पर आदित्यदर्शनका भाष्य।

८. ऋग्भाष्य-भूमिका।

नेताओंका रहा, जिन्होंने अपनी दलगत नीतियोंमें परिचालित होकर क्षुद्र स्वार्थवश इस शब्दका प्रयोग बिना भलीभाँति विचार किये ही 'मजहबी जुनून' के अर्थमें किया। इसी कारण, इधर कुछ वर्षोंसे यह शब्द 'शिष्ट परम्परासे प्राप्त उपदेश' के स्थानपर 'मतान्धता' के अर्थमें रूढ़ हो चला।

किंतु, अब इसके प्रयोगमें सावधानीकी आवश्यकता है, अन्यथा उस समस्त साहित्यके उन विशेषांशोंके सम्बन्धमें, जहाँ 'सम्प्रदाय' या उससे बने अन्य शब्दोंका प्रयोग हुआ है, भविष्यमें भारी भ्रम उत्पन्न होनेकी आशङ्का है। अच्छा हो, यदि हमारे पूज्य आचार्यवृन्द तथा अन्यान्य शास्त्रज्ञ विद्वज्जनादि इस विषयमें अपनी व्यवस्था दे दें।

तबतकके लिये, मेरा विचार है कि इसका 'भगवान्की प्राप्तिमें सहायक उपासना-सम्बन्धी मार्गविशेष' अर्थ सर्वग्राह्य हो सकता है।

आनन्द-मार्ग

(लेखक—ठाकुर श्रीरतनसिंहजी परिहार, बी० ए०)

हरिरूप वृक्षका मूल आनन्द है, तीन गुण पत्ते हैं, चौबीस तत्त्व उसकी शाखाएँ हैं, वेदान्त पुष्प है तथा मुक्ति फल है। अतएव आनन्दप्राप्तिके हेतु चित्तशुद्धि एवं भक्ति परमावश्यक है।

आनन्द दो प्रकारके हैं—१. विषयानन्द तथा २. ब्रह्मानन्द। इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुख हैं; अतः वे भोगोंका सेवन करना चाहती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धका सुख विषयानन्द है। आलस्य, निद्रा एवं प्रमादका सुख तमोगुणी आनन्द है, इससे आत्माका हनन होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मत्सरका सुख भी इस श्रेणीके अन्तर्गत आता है। अनेक प्रकारकी इच्छाएँ, कामनाएँ तथा आसक्तिका सुख रजोगुणी सुख है। ज्ञान, वैराग्य, सत्य तथा अहिंसा आदि गुणोंका सुख सत्त्वगुणी है; किंतु तीन प्रकारके सुख त्रिगुणात्मक मायाकी प्रेरणासे क्षणिक हैं। स्थायी तत्त्व उनमें दृष्टिगत नहीं होता है।

आधुनिक कालमें समाजमें गरीबी, बेकारी, भुखमरी एवं बीमारी पनप रही है। जीवन दुःखपूर्ण, व्यथित तथा चिन्तित है। मनुष्य भूले हुए यात्रीके समान है, जिसे दिशा एवं उपदिशाओंका भी ज्ञान नहीं है। आसक्ति तो है, किंतु वैराग्यका अभाव है। इसका कारण केवल यह है कि मानव-जीवनमें कासना, लोभ, वैमनस्यता, परदोषदर्शन, राग, द्वेष, क्रोध, शत्रुता, कलह एवं हिंसाकी मात्रा उत्तरोत्तर वृद्धि कर रही है। लोग अविद्यावश असत्यको सत्य, अपवित्रताको पवित्रता मान बैठे हैं तथा वे गलत मार्गका अनुसरण कर रहे हैं।

मन ही सुख एवं दुःखका आधार है। जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही बन जाता है। यह एक महान् सत्य है कि यदि स्वतःको शक्तिशाली सोचिये तो आप शक्तिशाली बन सकते हैं। यदि शक्तिहीन सोचा जाय तो मनुष्य शक्तिहीन बन सकता है। विचारोंमें विलक्षण शक्तियाँ होती हैं। अतएव मनुष्यको उपयोगी विचार संग्रह करना चाहिये तथा अनुपयोगी एवं विध्वंसकारी विचारोंका नाश करना व्यक्तित्वके विकास-हेतु आवश्यक है।

वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति-हेतु अपनी देहासक्तिको त्यागकर मनको विचारहीन करना अनिवार्य है; तत्पश्चात् अर्द्धचेतन मनको जैसे सुझाव दिये जायँगे, उसीके अनुसार अनुभूति होती जायगी। अतएव प्रत्येक विचारपर ध्यान देना चाहिये।

अपने जीवनका स्वाध्याय करनेपर यह ज्ञात होता है कि अपने गत संकल्प, विचार तथा निश्चयके अनुसार जीवनमें उत्थान एवं पतन होता है। अर्द्धचेतन मन आज्ञाकारी सेवक है। इसे जिस प्रकारके संदेश एवं विचार दिये जायँगे, वैसे ही जीवनमें अनुभूति होगी। वृद्धावस्थाके जीवन-कालकी कोई योजना न होनेके कारण अनेक व्यक्ति बुढ़ापेमें पदार्पण करनेके उपरान्त ही मृत्युमें लीन हो जाते हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य सुख चाहता है तथा दुःखकी अवहेलना करता है। किंतु वह यह भूल जाता है कि मन ही सुख एवं दुःखका आधार है। वह दुःखको सुख मान बैठा है। इसके फलस्वरूप उसका जीवन दुःखपूर्ण रहता है। भौतिक संकट, रोग, गरीबी एवं बेकारीका अनुभव

करता रहता है। रसनेन्द्रिय एवं जननेन्द्रियका सुख ही उसके जीवनका लक्ष्य बन बैठा है। लौकिक भोग-पदार्थ प्रारम्भमें सुखदायी लगते हैं, किंतु अन्तमें दुःखपूर्ण होते हैं। अतएव वास्तविक सुखकी खोजके लिये निम्न मानस-स्तरसे पृथक् होकर उच्च विचारोंसे मस्तिष्कको भर देना चाहिये। उच्च एवं उपयोगी विचार ही वास्तविक सुख देनेमें समर्थ हैं।

परब्रह्म परमात्मा ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, चिदानन्दमय एवं गुणातीत है। माया दुःखपूर्ण है; किंतु मायातीत ही आनन्दमय है। अतएव वास्तविक सुखके हेतु ब्रह्मकी साधना करना परमावश्यक है, तदुपरान्त मानव-जीवन सफल हो सकता है।

जीव ब्रह्मका एक अंश है, अतः स्वभावतः वह शुद्ध एवं सुखपूर्ण है; किंतु त्रिगुणात्मक मायाकी प्रेरणाके कारण अनादिकालसे भटका हुआ है। वह जीव सत्त्वगुणके कारण देवयोनिको प्राप्त होता है; किंतु पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसे च्युत हो जाता है। पाप एवं पुण्य-कर्म करनेके फल-स्वरूप तथा रजोगुणके प्रभावसे मनुष्यका रूप धारण करता है। तमोगुणकी प्रधानतासे वह तिर्यग्योनिमें जन्म लेता है। इस तरह जीवात्मा जन्म एवं मरणके चक्रसे पीड़ित है। मुक्तिका वास्तविक आनन्द उसे प्राप्त नहीं हो रहा है।

मनुष्य-शरीर समस्त योनियोंमें परम श्रेष्ठ है। इस देहसे मुक्ति-प्राप्ति सम्भव है। इस मानव-देहकी मुख्यतः तीन अवस्थाएँ हैं। १. बाल्यावस्था, २. यौवन, ३. बुढ़ापा। अतः वृद्धावस्था एवं मृत्यु आनेके पूर्व ही सद्गुरुकी शरण लेकर जरा-मरणसे मुक्त होनेके लिये साधना करनी चाहिये।

मनुष्य सदैव शरीर, स्त्री, संतान आदि अनेक लौकिक पदार्थोंका चिन्तन करता रहता है। अतः इसकी आसक्ति-के फलस्वरूप दुखी रहता है। लौकिक भोगोंका सुख अस्थायी एवं क्षणिक है। ब्रह्मसुख ही सनातन एवं अनन्त है। अतएव लौकिक वस्तुओंको विस्मृतकर यदि ब्रह्मका निरन्तर चिन्तन किया जाय तो वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति सम्भव है।

आनन्दपथमें भोगोंसे विरक्ति, कुविचारोंपर विजय, धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन तथा मुक्तिके लिये साधनाका अनुसरण करना अनिवार्य है।

सफलता-प्राप्तिके लिये सदा सफलताका चिन्तन करना आवश्यक है। मनको पूर्णतया सफलताके विचारोंसे भर देना होगा। जैसा मन होता है, वैसा ही भविष्य निर्मित होता है; किंतु सफल जीवनके लिये तीन बातें ध्यानमें रखना आवश्यक है—१. मनकी एकाग्रता, २. चित्तपर सफलताके मानचित्र बनाना और ३. सफलताके लिये उपयुक्त साधन करना।

वाणीसे विचार श्रेष्ठ है, विचारसे आचरण श्रेयस्कर है। अनुपयोगी विचारोंको संग्रह करना केवल मानसिक भार है। उपयोगी विचार, इच्छाएँ एवं निर्णयोंको महत्त्व देना हितकर है। विचारोंके अनुकूल कर्म करना पड़ता है तथा तदनुसार विचारोंकी अनुभूति होती है, शुभ विचारोंका फल हितकारी होता है और अशुभ विचारोंका फल हानिप्रद होता है।

मनुष्यका जीवन आज प्रायः असफल, दुःखपूर्ण, विपत्ति-मय तथा दरिद्रतापूर्ण है। इसका प्रधान कारण यह है कि उसे आत्मशक्तिका ज्ञान नहीं है या वह उसका दुरुपयोग करता है अथवा उस शक्तिका उपयोग भलीभाँति नहीं करता। इस ब्रह्म-शक्तिका उपयोग सभी माननीय क्षेत्रोंमें किया जा सकता है, ताकि हमारा जीवन सफल एवं सुखी रह सके।

मनके अनुकूल भविष्य बनता है, विचारोंके आधार-पर जीवन बनता या बिगड़ता है। विचारोंसे कर्म उत्पन्न होता है, कर्मसे आदतें बनती हैं, आदतोंसे चरित्र तथा चरित्रसे भाग्यका निर्माण होता है। अच्छे विचार तथा शुभ कर्म एवं निर्णयोंसे उत्तम भाग्यका निर्माण होता है।

चेतन मन अपने कार्यक्षेत्रमें सीमित है, किंतु अर्द्धचेतन मन सर्वशक्तिमान् है। चेतन मनमें तर्कशक्ति एवं विवेक-शक्ति होती है, जो अशुभ अनुपयोगी विचारोंसे मनुष्यकी रक्षा करती है। यदि इन कुविचारोंपर कोई नियन्त्रण न हो तो इनका चित्र अर्द्धचेतन मनपर अङ्कित हो जाता है, जिनका अशुभ परिणाम जीवनमें भोगना पड़ता है। अतएव आनन्दकी प्राप्तिके लिये निम्न मानसके कुविचारोंपर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है। तदुपरान्त चित्तशुद्धि होनेके पश्चात् शुद्ध मानस आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी ओर अग्रसर हो जाता है, इसके फलस्वरूप साधनासे सतत आनन्द जीवको प्राप्त होता है। साधनमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं ध्यानयोग सम्मिलित हैं, जिनका ज्ञान धार्मिक ग्रन्थ एवं सद्गुरुकी कृपासे होता है।

मोक्षदायिनी तुलसी और उसका स्वास्थ्योपयोगी उपयोग

(लेखक—वैद्य पं० श्रीगोपालजी द्विवेदी)

भारतमें तो तुलसीके पौधेको परम पवित्र मानकर उसकी पूजा की जाती है। पर संसारके अन्यान्य देशोंमें भी यह बहुत पवित्र मानी जाती है। जैसे ग्रीक गिरजोंमें तुलसीका पौधा पवित्र माना जाता है तथा मेडिटरेनियन समुद्रके किनारेके रेतोंमें यह एक स्वास्थ्यप्रद पौधा समझा जाता है। पूजा-अर्चन और तत्सम्बन्धी वस्तुओंका ध्यान आते ही पवित्र 'तुलसीदल'की व्यापकता हमारी दृष्टिमें आ जाती है। यह पुष्पवर्ग तथा अपने तुलसी कुलकी प्रमुख इस दिव्य बूटीके गुल्मजातीय, क्षुप, एकसे दो फुट ऊँचे होते हैं। शाखाएँ पतली, छोटी, सीधी फैली हुई। पत्र लगभग १ इंच लंबे, कुछ कगूरेदार गोल एवं सुगन्धित। पुष्पमञ्जरी ५ से ६ इंच लंबी। शाखाओंके अग्रभागपर बीज चिपटे कुछ लालवर्णके होते हैं। पुष्प एवं फल प्रायः शीतकालमें आते हैं।

धार्मिक महत्ता

तुलसीकी महत्ता गरुड़पुराण प्रेतकल्पमें इस प्रकारसे बतायी गयी है कि जीवनका जब अन्तसमय आवे, तब भगवान् शालग्रामका पूजन इन चीजोंके द्वारा करें। यथा—

अर्चयेद् गन्धपुष्पैश्च कुंकुमैस्तुलसीदलैः।
धूपैर्दीपैश्च नैवेद्यैर्बहुभिर्मोदकादिभिः॥
(अ० ८ श्लो० ६)

एकादशीव्रत, गीता, गङ्गाजल, तुलसीपत्र, विष्णु-पादोदक, भगवान्के नाम—अन्तसमयमें मुक्ति देनेवाले बताये गये हैं। यथा—

एकादशीव्रतं गीता गङ्गाम्बु तुलसीदलम्।
विष्णोः पादाम्बु नामानि मरणे मुक्तिदानि च॥
(अ० ८ श्लो० २६)

इसके अतिरिक्त निश्चय ही मुक्ति पानेके लिये तुलसीके समीप एक गोमयका मण्डल करें। उस मण्डलपर तिल, स्वच्छ कुशाका आसन बिछाकर, उसपर शालग्रामकी मूर्तिकी स्थापना करें। यथा—

कर्मयोगाद् यदा देही मुञ्चत्यत्र निजं वपुः।
तुलसीसन्निधौ कुर्यान्मण्डलं गोमयेन तु॥
(अ० ९ श्लो० ३)

इतना ही नहीं—

तुलसीविटपच्छाया यत्रास्ति भवतापहा।
तत्रैव मरणान्मुक्तिः सर्वदा दानदुर्लभः॥
(अ० ९ श्लोक ६)

अर्थात् संसारके तापको मिटानेवाली जहाँ तुलसी-वृक्षकी छाया है, उसके समीप मरनेसे निश्चय ही मुक्ति होती है। यथा—

तुलसीविटपस्थानं गृहे यस्यावतिष्ठते।
तद् गृहं तीर्थरूपं हि न यान्ति यमकिंकराः॥
(श्लो० ७)

अर्थात् जिसके घरमें तुलसीका वृक्ष है, वह घर तीर्थके समान है और उस घरमें यमदूत कभी नहीं जाते।

तुलसीमञ्जरीयुक्तो यस्तु प्राणान् विमुञ्चति।
यमस्तं नेक्षितुं शक्तो युक्तं पापशतैरपि॥
(श्लो० ८)

अर्थात् तुलसीकी मञ्जरीसे युक्त होकर जो प्राणत्याग करते हैं, वे अनेक प्रकारके पापोंसे युक्त रहनेपर भी यमलोकमें नहीं जाते।

तस्या दलं मुखे कृत्वा तिलदर्भासने मृतः।
नरो विष्णुपुरं याति पुत्रहीनोऽप्यसंशयः॥
(श्लो० ९)

अर्थात् तुलसीपत्रको मुखमें रख जो तिल और कुशाके आसनपर मरता है, वह मनुष्य पुत्रहीन होनेपर भी वैकुण्ठ-लोकमें जाता है।

तिलाः पवित्रास्त्रिविधा दर्भाश्च तुलसीरपि।
नरं निवारयन्त्येते दुर्गतिं यान्तमातुरम्॥
(श्लोक १०)

अर्थात् तिल, दर्भ और तुलसीपत्र—ये तीनों वस्तुएँ नरकमें जाते हुए प्राणियोंको बचाकर सद्गति कराती हैं।

चन्दनैस्तुलसीपत्रैर्धूपैर्दीपैः सुभोजनैः ।
मुखवासैः सुवस्त्रैश्च दक्षिणाभिश्च पूजयेत् ॥
(अध्याय १३ श्लो० ३८)

इस प्रकार गरुडपुराण प्रेतकल्पके अन्तर्गत तुलसीकी धार्मिक महत्तापर बल दिया गया है ।

कार्तिक मासमें कार्तिक-माहात्म्यव्रतका उद्यापन कार्तिक शुक्ल १४ को भगवान् विष्णुको प्रसन्न बनाये रखनेके निमित्त किया जाता है । इसमें विधान है कि सर्वप्रथम तुलसीके वृक्षके चारों ओर द्वार बनावें और उसके चारों ओर तोरण लगावें । चारों द्वारोंके दिक्पालों—पुण्यशील, सुशील, जय तथा विजयकी अलग-अलग पूजा करें । तुलसीकी जड़के समीप चारों रंगोंसे सर्वतोभद्र बनावें और उसके ऊपर पञ्चरत्न और नारिकेलसहित कलशकी स्थापना करें । उसी स्थानपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और पीताम्बरधारी लक्ष्मीसहित विष्णुकी पूजा करनी चाहिये ।

एक बारकी बात है कि महाराज पृथुने देवर्षि नारदसे पूछा कि 'आप यह बतानेकी कृपा करें कि तुलसी भगवान्को क्यों प्यारी हैं ?' नारदजीने बताया कि 'भगवान्के तीनों बीजोंसे क्रमशः आँवला, मालती और तुलसी—ये तीन वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं । गौरीके बीजसे तमोगुणी तुलसीका प्रादुर्भाव हुआ । अतः वैकुण्ठचतुर्दशीके दिन तुलसीके मूलमें विष्णुकी पूजा करनी चाहिये ।' आगे उन्होंने बताया कि 'जिस घरमें तुलसीका वन होता है, वह घर तीर्थरूप होता है । ऐसे घरमें यमराजके दूत नहीं जा पाते । जो लोग तुलसीका वृक्ष लगाते हैं, वे यमराजके दर्शन नहीं करते । नर्मदाका दर्शन, गङ्गाका स्नान और तुलसीके वनका संसर्ग अर्थात् तुलसीके वनमें निवास करना एक समान माना जाता है । तुलसीका पौधा लगानेसे, उसे सींचनेसे, उसका दर्शन करनेसे तथा स्पर्श करनेसे कायिक, वाचिक, मानसिक—सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । जो लोग तुलसीकी मञ्जरीको विष्णुपर चढ़ाते हैं, उन्हें फिर आवागमनके चक्करसे मुक्ति मिल जाती है । तुलसीके दलमें पुष्कर आदि तीर्थ, गङ्गा आदि नदियाँ, विष्णु आदि देवता निवास करते हैं । तुलसीके दल, तुलसीकी जड़की मिट्टीको मरनेवालेके शरीरमें लगा देनेसे उसे यमराज देखते ही नहीं । तुलसी-वनकी छायामें पितरोंके निमित्त किया गया श्राद्ध अक्षय होता है ।' उपर्युक्त चर्चा 'श्रीकाशीखण्ड' नामक ग्रन्थमें है । अब तुलसीके कुछ जन-जीवनके स्वास्थ्योपयोगी गुणोंको देखें ।

तुलसीके स्वास्थ्यवर्धक गुण

आयुर्वेदमें इसकी दो जातियाँ बतायी गयी हैं—सफेद और काली । इन्हें विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता है । सुरसा, ग्राम्या, सुलभा, बहुमञ्जरी, वृन्दा, देवदुन्दुभि, वैष्णवी, सुगन्धा, श्यामा, रामा तथा गौरी आदि नाम ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं । इनका निम्नलिखित रोगोंमें इस प्रकारसे सेवन करें—जुकाम, सर्दी, खाँसी और थकावटमें तुलसीकी ११ पत्ती, ३ काली मिर्च और ६ माशा अदरखको काढ़ेकी तरह बनाकर शहद और थोड़ा दूध मिलाकर पीनेसे तुरंत आराम मिलता है । तुलसीपत्रका रस शहदके साथ सेवन करनेसे वातरक्त, दूषितरक्त आदि दूर हो जाते हैं । कुष्ठरोग अच्छा करनेके लिये एक वर्षतक तुलसीका सेवन करना चाहिये ।

खुजलीमें तुलसीके रसकी मालिश तथा दो चम्मच रस पीना बड़ा लाभकारी होता है । तुलसीकी सूखी पत्तियोंको पीसकर उबटन करनेसे मुखकी कान्ति बढ़ती है । दाँतमें कीड़ा पड़नेपर तुलसीके रसमें थोड़ा-सा कपूर मिलाकर रुईसे भिगोकर पीड़ित स्थानपर रखनेसे कीड़े नष्ट हो जाते हैं । सिरकी पीड़ाके लिये छायामें सूखी तुलसीकी पत्तियोंका नस्य बड़ा लाभकारी होता है । वीर्यकी निर्बलतामें तुलसीके बीज ५ तोला, पोस्ताके डोटे ४ तोला, गोखरू ५ तोला, कौंचके बीज ३ तोला, मुसली ४ तोला और मिश्री ६ तोला—सबको कूटकर कपड़ेसे छानकर १० रत्तीकी मात्रामें प्रातः-सायं छुहारेको दूधमें पकाकर मिश्री मिलाकर उसके साथ लें । बच्चोंके श्वासपर तुलसीका रस एकसे तीन मासातक गरम कर शहदके साथ चटाना बड़ा लाभकारी होता है । ज्वरमें तुलसीकी जड़का काढ़ा पिलानेसे लाभ होता है । सूखी खाँसीमें तुलसीके फूल और सोंठ बराबर लेकर उसमें प्याजका रस चवन्नी भर और मधु चवन्नी भर मिलाकर चाटनेसे सूखी खाँसी दूर हो जाती है । आशा है, पाठक बन्धु उपर्युक्त विवरण पढ़कर तुलसीसे यथायोग्य लाभ उठायेंगे ।

तुलसीके हनुमान्

(लेखक—श्रीभिक्षु आनन्द)

भारतका अशिक्षित हिंदू भी जानता है कि ईश्वर एक ही है। वह केवल विभिन्न रूपोंमें अवतरित होता है और विभिन्न रूपोंमें उसी एककी उपासना होती है। फिर भी भारतमें हजारों देवी-देवताओंकी पूजा होती है और इसीसे भ्रमित होकर विदेशी तथा अन्य धर्मावलम्बी ऐसा समझ लेते हैं कि हिंदू-धर्ममें ईश्वर भी अनेक हैं। वस्तुतः सहस्रों देवता एक ही ब्रह्मकी सहस्रों शक्तियाँ हैं, जिसको जो रुचे, जो अनुकूल पड़े, उसको भजे। हजारों देवता एक ही सच्चिदानन्दकी हजारों भुजाओंके समान हैं। उन भुजाओंसे भगवान् हमें अपने वक्षसे लगा लेते हैं—यदि हममें प्रेम हो, भक्ति और सचाई हो।

भारतमें एक मान्यता व्याप्त है कि हनुमान्जी भगवान् शंकरके अवतार हैं। गोस्वामीजीने लिखा है कि भगवान् रामके अवतारका आश्वासन पाकर सभी देवता वानर-रूपमें पृथ्वीपर अवतरित हुए।

निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ॥

(बाल० १८७)

परंतु मानसमें कहीं ऐसा स्पष्ट नहीं किया कि कौन-से देवता किस वानरके रूपमें अवतरित हुए। सम्भव है, कहीं अन्यत्र उन्होंने इसका उल्लेख किया हो। गुणोंके वर्णनसे कुछ अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः सुग्रीव इन्द्रके अवतार थे; क्योंकि उनमें वे ही दुर्बलताएँ थीं जो इन्द्रमें गोस्वामीजीने बतायी हैं। जाम्बवन्त सम्भवतः बृहस्पति, नल-नील अश्विनीकुमारोंके अवतार थे। हनुमान्जीको तो शंकरका अवतार माना ही जाता है।

भले ही गोस्वामीजीने स्पष्ट नहीं लिखा हो कि स्वयं साक्षात् शिव ही वानरदेहमें अवतरित हुए थे, परंतु लगता है यह बात उनके मनमें सदा रही है। प्रस्तुत निबन्धमें यही बताना है।

भगवान् राम और हनुमान्जीकी प्रथम भेंटका वर्णन किष्किन्धाकाण्डमें है, जब कि सुग्रीवने दो नरपुङ्गवोंको आते देखा और उन्हें संदेह हुआ कि वालीके भेजे हुए शत्रु आ रहे हैं। थोड़े-से संवादके पश्चात् हनुमान्जी भगवान्के चरणोंमें गिर पड़ते हैं और इस सुखका अनुभव करते हैं—आशुतोष शंकर—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

(कि० १। ३)

इस प्रकारकी अनेक घटनाएँ हैं। जहाँ कहीं राम और हनुमान्के स्नेहालापका वर्णन है, वहाँ गद्गद हुए हैं स्वयं शंकर और उस आनन्दका वर्णन भवानीसे उन्होंने किया है।

और देखिये—

सुन्दरकाण्डमें वर्णन है। हनुमान्जी सीताकी सुधि लेकर आये हैं। राम और हनुमान्का वहाँपर संवाद है।

हनुमान्जीने कहा—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥

(सु० ३१। २)

राजीवलोचन राम कृतज्ञता प्रदर्शित करके हनुमान्जीको विचलित कर देते हैं। रामने कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

(वही ३१। ३)

हद हो गयी। परंतु इतना ही नहीं, आगे कहते हैं—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

(३१। ४)

परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

(३२)

अब आगे सुनिये—

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥
प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥

(३२। १)

स्पष्ट है, वह कर-पङ्कज स्वयं शंकरजीके शीशपर ही फेरा गया था। वे क्यों नहीं उस सुखका स्मरण करके मगन होते ?

सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥
(३२।२)

हनुमान्जीने अपनी प्रशस्तिके उत्तरमें इतना ही कहा—

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥
(३२।५)

ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल॥
(३३)

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥
सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥
(३३।१)

अब कहिये! भगवान्ने वरदान दिया हनुमान्जीको और आशुतोष यह रहस्य किस आनन्दके साथ अन्नपूर्णाको बता रहे हैं।

आगे कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥
यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा॥
(३३।२)

यह है सदाशिवका निष्कर्ष जो स्वयं अपने अनुभव-पर आधारित है।

एक संकेत लंकाकाण्डमें रावण-अंगद-संवादमें मिलता है। अंगद कहते हैं—

सेन सहित तव मान मथि बन उजारि पुर जारि।
कस रे सठ हनुमान कपि गयउ जो तव सुत मारि॥
(लं० २६)

अंगद जानते थे कि हनुमान्जी क्या हैं ?

गोस्वामीजी श्रीरामके बाद सबसे अधिक श्रीशंकरकी ही भक्ति करते थे। हनुमान्जीकी स्तुतिमें उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। काशीमें संकटमोचनकी स्थापना उनके द्वारा हुई, ऐसा माना जाता है और इसके साथ ही सारे देशमें हनुमान्जीकी पूजाका प्रचार हुआ। किसी अन्य वानरकी पूजाका विधान नहीं है। वस्तुतः वह सदा-शिवकी ही पूजा है, जो देशभरमें व्याप्त है।

भगवान् रामने हनुमान्जीको जो प्रेम दिया, वह अन्य वानर नहीं प्राप्त कर सके। अयोध्यामें श्रीरामका सान्निध्य केवल हनुमान्जीको ही प्राप्त हुआ। इसका कारण यही था कि भगवान् रामका कोई भक्त शंकरके समान नहीं था। भगवान्ने स्वयं कहा है—

कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥
(बा० १३७।३)

हनुमानचालीसा तुलसीदासजीकी रचना है। उसमें एक स्थलपर कहा है—

जो सत बार पाठ कर कोई। छूटहिं बंदि महा सुख होई॥
जो यह पढ़ै हनुमानचलीसा। होय सिद्धि साखी गौरीसा॥

हनुमान्जीकी उपासना अकारण नहीं की जाती। रामकी भक्ति करनेवाले हनुमान्के भी भक्त हैं। इसका कारण यह है कि—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥
(उत्तर० ४५)

हनुमान्जीका तुलसी-वर्णित चरित्र अत्यन्त उदात्त और पवित्र है। रामके अतिरिक्त उनका कोई आश्रय, कोई परिग्रह नहीं है। रामके कार्यके अतिरिक्त उनका कोई व्यक्तिगत कार्य नहीं है। रामका प्रेम ही उनका साधन है। वही उनकी सिद्धि है। कहीं भी उनका व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं दिखायी देता। वे राममय हैं। स्वयं राम ही उनके माध्यमसे कार्य कर रहे हैं। सुग्रीवके समान उनका राज्य पुत्र, कलत्र आदि प्रपञ्च नहीं है। अपने बलका अभिमान क्या, उन्हें बोध भी नहीं है। जब याद दिलाया जाता है, तभी स्मरण होता है। उन्होंने भक्तिके चरम मानदण्डको स्थापित किया है। अपने विषयमें उन्होंने कहा है—

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥
(सु० ६।४)

और भी—

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई॥
(सु० ३२।४)

गोस्वामीजीने यह जो कहा है—

राम दुआरे तुम रखवारे। होत न आज्ञा बिनु पैसारे॥

उसमें मुझे यह अर्थ दिखायी देता है कि बिना हनुमान्‌जीका उदाहरण समझे रामको नहीं पाया जा सकता। हमें अपने व्यक्तित्वका सर्वथा विलय करना होगा; अपनेको सर्वथा रामके चरणोंमें समर्पित करना होगा। अपनेको उनका सर्वाङ्ग यन्त्र बना देना होगा। जब हम न होंगे, तब केवल राम होंगे। जब हमारा कार्य नहीं होगा, तभी रामका कार्य होगा। जब हमारा पूर्ण समर्पण होगा, तभी रामकी पूर्ण विजय होगी। रामकी पूर्ण विजय भक्तकी पूर्ण विजय है।

यह है हनुमान्‌जीका दर्शन।

श्रीबगलामुखी देवीकी उपासना

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीबगलानन्दजी उपनाम पं० श्रीयशदत्तजी शर्मा, वानप्रस्थी, वैद्य)

[गताङ्क पृष्ठ ८७१ से आगे]

इस मन्त्रसे मालाको अपने मस्तकपर रखकर तीन बार प्राणायाम करके ऋष्यादिन्यास, करन्यास, षडङ्गन्यास एवं ध्यानान्त कर्म करे। इसके बाद अङ्ग-मन्त्रोंको जपे।

अङ्गमन्त्र

अङ्ग-मन्त्र सांख्यायन-तन्त्रमें बताये गये हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं--

(वडवामुखी)

ॐ ह्लीं ह्रौं स्रौं ह्रौं बगलामुखि ह्रां ह्रीं ह्रूं सर्वदुष्टानां ह्रैं ह्रौं ह्रः वाचं मुखं स्तम्भय स्तम्भय ह्रः ह्रौं ह्रैं जिह्वां कीलय ह्रूं ह्रीं ह्रां बुद्धिं विनाशय ह्रौं स्रौं ह्रौं ह्रीं ॐ फट्।

(उल्कामुखी)

ॐ ह्लीं सौः ह्रौं बगलामुखि सर्वदुष्टानां ह्लीं सौः ह्रैं वाचं मुखं पदं ह्लीं सौः ह्रौं स्तम्भय स्तम्भय ह्लीं सौः ह्रौं जिह्वां कीलय कीलय ह्लीं सौः ह्रौं बुद्धिं विनाशय विनाशय ह्लीं सौः ह्रौं स्वाहा।

(ज्वालामुखी)

ॐ ह्लीं रं रं रं रं रं प्रस्फुर प्रस्फुर रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं बगलामुखि रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं सर्वदुष्टानां रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं वाचं मुखं पदं स्तम्भय स्तम्भय रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं जिह्वां कीलय कीलय रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं बुद्धिं विनाशय विनाशय रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं रं स्वाहा।

(जातवेदोमुखी)

ॐ ह्लीं ह्रौं ह्लीं ॐ बगलामुखि सर्वदुष्टानां ॐ ह्लीं ह्रौं ह्लीं वाचं मुखं पदं स्तम्भय स्तम्भय ॐ ह्लीं ह्रौं ह्लीं जिह्वां कीलय कीलय ॐ ह्लीं ह्रौं ह्लीं बुद्धिं नाशय नाशय ॐ ह्लीं ह्रौं ह्लीं ॐ।

(बृहद्भानुमुखी)

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ॐ बगलामुखि ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः सर्वदुष्टानां वाचं मुखं पदं स्तम्भय स्तम्भय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः जिह्वां कीलय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः बुद्धिं विनाशय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः स्वाहा।

(शताक्षरी बगलामन्त्र)

ॐ ह्लीं सौः ह्रीं क्लीं ह्रीं ऐं ह्लीं श्रीं सौः ह्रौं बगलामुखि स्फुर स्फुर सर्वदुष्टानां वाचं मुखं पदं स्तम्भय स्तम्भय स्फुर स्फुर विकटाङ्गि घोररूपे जिह्वां कीलय महाशब्दभ्रमकरि बुद्धिं विनाशय विराण्मयि सर्वप्रज्ञामयि प्रज्ञां नाशय नाशय उन्मादं कुरु कुरु मनोऽपहारिणि ह्लीं सौः ह्रौं क्लीं ह्रीं ऐं ह्लीं श्रीं सौः ह्रौं स्वाहा।

(बगलास्त्र)

ह्लीं सौः ह्रौं सौः ह्लीं बगलामुखि सर्वदुष्टानां वाङ्मनःस्तम्भनं कुरु कुरु ग्रस ग्रस खाहि खाहि शोणितं पिब पिब ह्लीं सौः ह्रौं सौः ह्लीं हुं फट्।

(चतुरक्षरी)

ॐ आं ह्लीं क्लीम्।

—इन अङ्ग-मन्त्रोंका जप करके 'गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वम्' इत्यादि मन्त्रको पढ़कर देवीके बायें हाथमें तेजःस्वरूप जप समर्पित करके 'ह्रीं सिद्ध्यै नमः'—इस मन्त्रसे मालाकी पूजा करके उसे एकान्तमें रख दे। माला न हो तो हाथसे ही जप करे। अथवा मातृका-वर्णोंद्वारा जप करना चाहिये। यह सबसे श्रेष्ठ माना गया है।

स्तोत्रपाठ

तदनन्तर शान्तिस्तोत्रका पाठ करे। उसके बाद बगला-पञ्चाङ्गका पाठ करे। समय हो तो अन्यान्य देवीस्तोत्रोंका भी पाठ करना चाहिये। पाठके पश्चात् वितता, स्वस्तिक, कमठ, धेनु तथा योनि—इन पाँच मुद्राओंद्वारा देवीको प्रणाम करके उनसे अपनी त्रुटियोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करे।

क्षमा-प्रार्थना

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं शिवे॥
अपराधो भवत्येव सेवकस्य पदे पदे।
कोऽपरः सहते लोके केवलं स्वामिनीं विना॥
अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽयमिति मां मत्वा क्षमस्व परमेश्वरि॥
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यन्मया क्रियते शिवे।
मम कृत्यमिदं सर्वमिति मातः क्षमस्व मे॥

'शिवे! धरतीपर जिनके पैर लड़खड़ा जाते हैं, उन्हें सहारा देनेवाली भी धरती माता ही हैं; उसी प्रकार जो आपके प्रति अपराध कर बैठते हैं, उन सेवकोंको शरण देनेवाली आप ही हैं। सेवकसे पद-पदपर अपराध बनता ही है; किंतु उन्हें केवल करुणामयी स्वामिनीको छोड़कर जगत्में दूसरा कौन सहन करता है? परमेश्वरि! मेरे द्वारा रात-दिन सहस्रों अपराध किये जाते हैं; किंतु यह मेरा सेवक है, यह समझकर आप मुझे क्षमा कर दें। शिवे! मातः! मेरे द्वारा जाने-अनजाने जो कुछ भी कार्य किया जाता है, वह सब मेरा ही काम है—यह समझकर आप मुझे क्षमा कर दें।'

इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करके आत्मसमर्पण करे।

आत्मसमर्पण

ॐ इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत्कृतं तत्सर्वं श्रीगुरुदेवे समर्पितमस्तु स्वाहा। मदीयं मां च सकलं श्रीमद्बगलामुख्याश्चरणयोः समर्पयामि नमः। ॐ तत्सत्।

अर्थात् आजसे पहले प्राण, बुद्धि तथा देह—इन सबके धर्मोंके अधिकारसे मैंने जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओंमें मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर तथा उपस्थेन्द्रियसे जो कुछ किया है, वह सब श्रीगुरुदेवमें समर्पित हो जाय, सम्यक् प्रकारसे हुत हो जाय। मेरा और मैं, सबको श्रीबगलामुखीके चरणोंमें समर्पित करता हूँ। देवीको नमस्कार है।

॥ ॐ तत्सत् ॥

यह कहकर सर्वस्व समर्पित कर दे।

पुनः क्षमा-प्रार्थना

मूलमन्त्रसे देवीको पुष्पाञ्जलि देकर दोनों हाथ जोड़ निम्नाङ्कित रूपसे प्रार्थना करे—

यन्मया भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
निवेदितं च नैवेद्यं तद् गृहाणानुकम्पया॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वरि॥
कर्मणा मनसा वाचा त्वत्तो नान्या गतिर्मम।
इति ज्ञात्वा महादेवि क्षमस्व परमेश्वरि॥
नानायोनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
देवी दात्री च भोक्त्री च देवी सर्वमिदं जगत्।
देवी जयित्री सर्वत्र या देवी साहमेव हि॥
यदक्षरपदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद् भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि प्रसीद परमेश्वरि॥

'देवि! मैंने भक्तिमात्रसे जो भी पत्र, पुष्प, फल और नैवेद्य अर्पित किये हैं, इन्हें आप कृपापूर्वक स्वीकार करें। परमेश्वरि! मैं आपका आवाहन नहीं जानता, विसर्जन नहीं जानता और पूजा करनेका ढंग भी नहीं जानता। अब आप ही मुझे शरण देनेवाली हैं। मन, वाणी और क्रियाद्वारा आपको छोड़कर दूसरा कोई मेरा आधार नहीं है। महादेवि! परमेश्वरि! यह जानकर आप मुझे क्षमा करें। जिन-जिन नाना प्रकारकी सहस्रों योनियोंमें

मैं जाऊँ, उन सबमें आपके प्रति मेरी अविचल भक्ति बनी रहे। देवी ही देनेवाली हैं। वे ही भोगनेवाली भी हैं। यह सारा जगत् देवीका ही स्वरूप है। देवी सर्वत्र विजयशीला हैं। जो देवी हैं, वही मैं हूँ। मेरे बोलनेमें जो अक्षर और पद टूटते हैं तथा मेरे द्वारा जो मात्राहीन उच्चारण होता है, देवि ! वह सब आप क्षमा करें। परमेश्वरि ! मुझपर प्रसन्न होइये।'

यों कहकर योनिमुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करे।

शङ्ख-भ्रामण

तदनन्तर देवीके ऊपर तीन बार शङ्ख घुमाये और उस समय निम्नाङ्कित श्लोकका पाठ करे—

साधु वासाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया।
तत्सर्वं कृपया देवि गृहाणाराधनं मम॥

'देवि ! मैंने अच्छा या बुरा जो-जो कर्म किया है, वह सब मेरे द्वारा की गयी अपनी आराधना मानकर कृपापूर्वक स्वीकार करें।'

इस प्रकार शङ्ख घुमाकर देवीके हाथमें किंचित् जल देकर शङ्खको यथास्थान रख दे।

पुष्पाञ्जलि और विसर्जन

तदनन्तर हाथमें पुष्पाञ्जलि लेकर—

ॐ रश्मिरूपा महादेव्या अत्र पूजितदेवताः।
बगलादेव्यङ्गलग्नास्ताः सन्तु सर्वाः शुभावहाः॥

'यहाँ महादेवी बगलामुखीकी किरणरूप जिन देवताओंकी पूजा की गयी है, वे सब देवीके अङ्गमें लीन होकर हमारे लिये कल्याणकारी हों।'

—यों कहकर पुष्पाञ्जलि अर्पित करे और मन-ही-मन भावना करे कि समस्त परिवार-देवता देवीके अङ्गमें लीन हो गये हैं। तत्पश्चात् कामकलास्वरूप अपने आपका चिन्तन करके खेचरीमुद्रा बाँधकर 'ह्रीं'के उच्चारणपूर्वक प्रणाम करके 'श्रीबगलामुखि मातः क्षमस्व'—यों कहकर तीन बार ताली बजाकर देवीको जगाये और—

गच्छ गच्छ परं स्थानं स्वस्थानं परमेश्वरि।
यत्र ब्रह्मादयो देवाः स विष्णुः परमं पदम्॥

'परमेश्वरि ! जहाँ ब्रह्मा आदि देवता रहते हैं तथा जहाँ भगवान् विष्णु विराजमान हैं, अपने उस परम पदस्वरूप उत्तम निवासस्थान—परम धामको पधारें।'

—यों कहकर तेजोरूपिणी उन महादेवीकेतेजको संहार-मुद्राद्वारा निर्माल्य पुष्परूपसे निकालकर सूँघे और पूरक प्राणायामद्वारा मस्तकस्थित सहस्रदल कमलतक उस तेजको ले जाय। वहाँ एक क्षणतक तेजोमयी देवीका ध्यान करके सुषुम्णामार्गसे हृदयकमलमें ले आये और वहाँ यथोक्तरूपा देवीका ध्यान करे—

तिष्ठ तिष्ठ परस्थाने स्वस्थाने परमेश्वरि।
यत्र ब्रह्मादयः सर्वे सुरास्तिष्ठन्ति मे हृदि॥

'परमेश्वरि ! मेरा हृदय तुम्हारा अपना ही परम उत्तम स्थान है, जहाँ ब्रह्मा आदि सब देवता स्थित हैं, तुम इसमें नित्य निवास करो।'

यों कहकर हृदय-कमलमें देवीको स्थापित करके पूर्वोक्त मानसोपचारोंद्वारा उनका पूजन करे। फिर कुण्डलिनीरूपसे उनका ध्यान करके उन्हें मूलाधारमें स्थापित करे।

निर्माल्यवासिनी-पूजा

तदनन्तर देवीके ईशानभागमें त्रिकोण, गोलाकार तथा चौकोर रेखाओंसे युक्त मण्डलका निर्माण करके वहाँ शेषिकाका आवाहन करे और उसके स्वरूपका निम्नाङ्कितरूपसे ध्यान करे।

मातङ्गीं नवयावकार्द्रचरणां प्रोल्लासिनीं सुस्मितां
वीणोल्लासिकरां समुन्नतकुचां मुक्ताप्रवालावलीम्।
बिभ्राणां सितशङ्खचामरयुतां हृद्याङ्गभूषाम्बरा-
माकीर्णालकवेणिसब्जनयनां ध्यायेच्छुकश्यामलाम्॥

'मातङ्गी देवीका श्रीविग्रह तोतेके समान श्याम है। उनके चारु चरण तत्काल लगे हुए महावरके रंगसे आर्द्र दिखायी देते हैं। वे अनन्त उल्लाससे परिपूर्ण तथा मन्द मुस्कानसे सुशोभित हैं। उनके हाथ वीणासे विलसित हैं। युगल उरोज उभरे हुए हैं। वे मोती और मूँगोंकी माला धारण करती हैं। श्वेत शङ्ख तथा चँवर लिये रहती हैं। उनके अङ्गोंके आभूषण और वस्त्र अत्यन्त मनोरम हैं। उनके बालोंकी वेणी खुलकर बिखर गयी है और नेत्र विकसित नील कमलकी शोभाको छीने लेते हैं। ऐसी शोभामयी मातङ्गी देवीका ध्यान करे।'

—इस प्रकार ध्यान करके मानसोपचारोंद्वारा पूजन करे। तत्पश्चात् त्रिकोणके मध्यमें 'मं मण्डलाय नमः' यों कहकर निर्माल्यसे पूजन करके 'ऐं नमः उच्छिष्टचाण्डालि मातङ्गि सर्ववशंकरि स्वाहा । शेषिकाश्रीपादुकां पूजयामि' यों कहकर निर्माल्य पुष्पोंसे तीन बार संतर्पण करके नैवेद्य-शेषसे नैवेद्यादि निवेदन करे । फिर बगलामुखी देवीकी आज्ञासे शेषिकाको पुष्पाञ्जलि देकर योनिमुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक प्रणाम करके 'क्षमस्व' कहकर उसे विसर्जित करे ।

विशेषार्घ्यप्रतिपत्ति

तदनन्तर विशेषार्घ्य लेकर अपने मस्तकपर श्रीगुरुपादुका-मन्त्रसे श्रीगुरुदेवताका तीन बार संतर्पण करे । फिर मूल-मन्त्रसे हृदयमें देवीका तीन बार संतर्पण करके 'आर्द्रं ज्वलति'—इत्यादि मन्त्रसे विशेषार्घ्यमें स्थित जलको पीये ।

उच्छिष्टभैरवको बलि

इसके बाद बलिपात्रोंको 'मं नमः'—इस मन्त्रसे एकत्र करके घरसे बाहर त्रिकोण मण्डलमें गदा, त्रिशूल और पात्र हाथमें धारण करनेवाले, वृषभपर आरूढ, त्रिनेत्रधारी उच्छिष्टभैरवका ध्यान करके मानसोपचारसे उनका पूजन करे । फिर उच्छिष्ट बलिपात्रको मण्डलके ऊपर रखकर 'ॐ उच्छिष्टभैरव एह्येहि बलिं गृह्ण गृह्ण हुं फट् स्वाहा'—इस मन्त्रसे उच्छिष्टभैरवको उक्त उच्छिष्ट बलि अर्पित करे ।

सूर्यार्घ्य-दान

तत्पश्चात् हाथ-पैर धोकर आचमन करके 'ममोदयोऽस्तु' (मेरा अभ्युदय हो)'—यह कहते हुए घरके भीतर प्रवेश करे । वहाँ आसनपर बैठकर सूर्यको अर्घ्य दे । अर्घ्यका मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे ।
नमः सवित्रे शुचये नमस्ते लोकसाक्षिणे ॥
ह्रीं ह्रीं सः श्रीसूर्य एष तेऽर्घ्यः ।

—यह कहकर सूर्यदेवताको अर्घ्य दे ।

उपसंहार

अर्घ्य देनेके बाद हाथ जोड़कर इस प्रकार कहे—

यज्ञच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं मम पूजने ।
सर्वं तदच्छिद्रमस्तु भास्करस्य प्रसादतः ॥

'यज्ञमें, तपमें तथा मेरे पूजनकर्ममें जो छिद्र या त्रुटियाँ रह गयी हों, वे सब भुवनभास्कर सूर्यके प्रसादसे दूर हो जायँ ।'

यों कहकर छिद्र-निवारणके पश्चात् मूल मन्त्रसे प्राणायाम, ऋष्यादिन्यास, करन्यास, षडङ्गन्यास एवं ध्यानान्त कर्म करके श्रीगुरुको प्रणाम करे और निर्माल्य चन्दन हाथमें लेकर—

यं यं स्पृशामि पादेन यं यं पश्यामि चक्षुषा ।
स एव दासतां याति बगलायाः प्रसादतः ॥

'मैं जिस-जिसको पैरसे छूता हूँ और जिसे-जिसे आँखसे देखता हूँ, वही बगलामुखी देवीके प्रसादसे मेरा दास हो जाता है ।'

यों कहकर तिलक लगाये । निर्माल्य पुष्प सिरपर रक्खे और मूल मन्त्रसे स्वयं चरणोदक लेकर भक्तोंको भी दे । फिर शेष नैवेद्यको स्वयं उपभोगमें लाकर कामकला-स्वरूप अपने-आपका चिन्तन करके पूजाको पूर्ण समझे ।

॥ इति शुभम् ॥

। ॐ तत्सत् ।

इदं सर्वं श्रीबगलामुख्यै समर्पितमस्तु । ह्रीं ॐ शुभं भूयात् ।*

(ममास)

* श्रीबगलामुखी देवीकी उपासना—परमार्थके साधकोंके लिये नहीं है । यह पूर्णतया सात्त्विक परमार्थसाधिनी या भगवत्प्राप्ति करानेवाली—उपासना नहीं है । अतएव जिनको प्रयोजन हो, वे ही इस उपासनाका सम्पादन करें—करावें । बड़ी सावधानीसे, क्योंकि भूल होनेपर विपरीत फल भी हो सकता है । इस उपासनामें भी प्रधानतया उद्देश्य श्रीभगवतीकी प्रसन्नता प्राप्त करना ही रहे, किसीका अहित नहीं ।

श्रीकृष्णजन्मभूमि मथुराके प्राचीन मन्दिर

(लेखक—आचार्य डा० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी)

मथुरा नगरका जितना धार्मिक दृष्टिसे महत्त्व है, उतना ही ऐतिहासिक दृष्टिसे भी है। देशका ऐसा कोई प्रसिद्ध तीर्थ नहीं जो मथुरामण्डलमें प्रसिद्ध न हो या मथुराका उससे किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्ध न हो।

अयोध्या, काशी, हरिद्वार, अवन्ति, काञ्ची—सभीके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थल मथुरामण्डलमें हैं। तीर्थराज प्रयाग भी यहाँ चातुर्मास्यमें निवास करता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक सम्राटोंने इस नगरीको अपनेसे किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्धित किया है। प्राचीन देवमन्दिर धार्मिक और ऐतिहासिक दोनोंके ही समन्वित रूपमें अतीतकी स्मृतियोंका प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

मथुरामें यात्री आते हैं और प्रसिद्ध विश्रामघाटपर उन्हें यमुनापुत्र मिलते हैं, जो मथुराके प्रसिद्ध स्थलोंका परिचय देते हुए पूर्वपरम्पराकी रक्षा करते हैं।

विश्रामघाट

विश्रामघाटपर वाराहजीने हिरण्याक्षका वध कर विश्राम ग्रहण किया था। द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णने कंसको मारकर विश्राम लिया था। वाराहपुराणमें विश्रामघाटको अद्वितीय तीर्थ लिखा है—

श्रमो नश्यति मे क्षीप्रं मथुरामागतस्य हि।
विश्रमणाच्चैव विश्रान्तिस्तेन संज्ञा कृता मया॥

तथा—

न केशवसमो देवो न माथुरसमो द्विजः।
न विश्रान्तसमं तीर्थं सत्यं सत्यं वसुन्धरे॥

एक साथ बहुत-से घण्टे प्रातःकाल और सायंकाल श्रीयमुनाजीकी आरतीके समय बजाये जाते हैं।

मन्दिर द्वारकाधीश

श्रीद्वारकाधीशजी विश्रामघाटके समीप विशाल मन्दिरमें विराजमान हैं। वल्लभकुल-सम्प्रदायके आचार्य श्रीव्रजभूषणलालजी महाराजके संरक्षणमें इनकी सेवा-पूजा प्रचलित है। द्वारकाधीशजीकी मूर्ति ग्वालियरमें सुप्रसिद्ध पारखवाड़े नामक स्थानसे नींव खोदते समय पारिख गोकुलदासजीको मिली थी। पारिखजी महाराज दौलतराव सिंधियाके दीवान थे। नागाओंके अपार धनके साथ इस मूर्तिको वे मथुरा लाये और यहाँ मन्दिर निर्माणकर ठाकुरजीको विराजमान किया। यह मन्दिर आषाढ़ कृष्ण अष्टमी, सं० १८७१में बनकर तैयार हुआ था।

इस मूर्तिका कोई निश्चित काल निर्धारण नहीं किया जा सका है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट है।

वाराहजी

यह वाराहजीका मन्दिर है। मानिक चौक मुहल्लेमें यह मन्दिर बना है। समीप ही श्रीद्वारकाधीशजी हैं। वाराहजीकी मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है। इसकी एक कथा भी मिलती है—

प्राचीनकालमें एक मान्धाता नामक राजा था। मान्धाताकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उसे वाराह-मूर्ति सेवाके लिये दी थी। मान्धातासे यह मूर्ति कपिल मुनिको मिली और कपिलने इसे इन्द्रको दिया। इन्द्रसे इन्द्रजित् ले गया और रावणवधके पश्चात् विभीषणसे श्रीरामने केवल वाराहजी ग्रहण किये और इन्हें अयोध्यामें स्थापित किया। अयोध्यासे एक बार शत्रुघ्नजी मथुरा पधारे थे और माथुर ब्राह्मणोंके आग्रहपर उन्होंने लवण नामक असुरका वध किया था।

शत्रुघ्नजीको जब मथुराका राज्य रामने दिया तो वे वाराहजीको अपने साथ मथुरा लाये और तबसे यह मूर्ति मथुरामें ही विद्यमान है।

द्वितीय कथाके अनुसार वाराहजीने हिरण्याक्षको मारकर यहाँ विश्राम लिया था, तभीसे यह मन्दिर बना हुआ है। कपिलवाराह, वाराहदेव, नारायन, लांगल और वामन नामसे ये प्रसिद्ध हैं। वाराहके दर्शनोंका पुण्य पुष्कर-स्नान और गयाके पिण्डदानके समान वर्णित है। द्वादशीके दिन इनकी परिक्रमा करनेसे पृथ्वी-परिक्रमाका पुण्य मिलता है।

पद्मनाभ

यह मन्दिर महौलीपौर मुहल्लेमें विद्यमान है। इसमें पद्मनाभजीकी मूर्ति है, जिसे भगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र

वज्रनाभने अपने समयमें स्थापित किया था। इस मूर्तिमें आधा भाग हरिका और आधा भाग हरका है। अतः इसका विशेष महत्त्व है।

गतश्रम नारायण

यह मन्दिर गतश्रम टीला मुहल्लेमें है। गतश्रम-नारायणकी मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है। अन्तर्ग्रही परिक्रमामें आचार्य श्रीवल्लभमुनिसे अद्यावधि यात्री दर्शन अवश्य करते हैं। मन्दिर जीर्ण अवस्थामें है।

मथुरा देवी

यह मथुराकी अधिष्ठात्री देवी है। शीतला पायसा नामक स्थानमें यह विद्यमान है। इस मन्दिरमें एकत्रित माथुरोंका विनाश अहमदशाह अब्दालीने किया था। अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। अन्तर्ग्रही परिक्रमामें प्रत्येक यात्री यहाँ आता है।

दीर्घविष्णु

यह मन्दिर मनोहरपुरा नामक स्थानमें है। वर्तमान मन्दिरका निर्माण बनारसके राजा पटनीमलने करवाया था। भगवान् दीर्घविष्णुकी मूर्ति बड़ी भव्य है। मथुरामें कंसके मल्लोंके विनाशके समय भगवान्ने जो दीर्घ रूप धारण किया था, उसकी परिचायिका है।

चैत्र शुक्ल द्वादशीके दिन इसके पूजनसे दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

केशवदेव

यह मन्दिर मथुरा नगरके पश्चिममें बना हुआ है। प्राचीन मथुरा यहींपर बसी हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि भी यही है। कंसका कारावास यहीं था। इसके भग्नावशेष आज इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। भगवान्के धामके कारण आक्रमणकारियों, लुटेरोंके अनेक क्रूर आघात इस मन्दिरने सहन किये हैं और अनेक बार नष्ट होते हुए भी अपनी स्मृति बनाये रखनेमें यह स्वयं समर्थ रहा है। इस समय इस स्थानमें भारतका अद्वितीय भागवत-भवन बन रहा है।

महमूद गजनीके समय इस मन्दिरका ऐश्वर्य बढ़ा-चढ़ा था; फलतः उसने इसे नष्ट कर दिया था। कालान्तरमें वीरसिंह बुन्देलाने ३३ लाख रुपयेकी राशिसे इसका जीर्णोद्धार करवाया, जिसे औरंगजेबने अपनी क्रूरताका परिचय देते हुए धराशायी ही नहीं किया, एक मसजिदका निर्माण भी करा दिया था। आजसे २०० वर्ष पूर्व ग्वालियर महाराजने इसके कुछ भागोंकी रक्षा की थी।

महाविद्या

यह मन्दिर केशवदेवसे आगे परिक्रमामार्गमें विद्यमान है। अपनी शैलीका मथुरामें यह एक ही मन्दिर है। इसमें महाविद्याकी मूर्ति है। कहा जाता है कि महाविद्याकी प्रतिष्ठा पाण्डवोंने की थी। वर्तमान मन्दिरका निर्माण १८वीं शतीमें पेशवाओंने किया था।

चामुण्डा

यह मन्दिर शाक्त-सम्प्रदायका प्रसिद्ध तीर्थ है। योनिकी आकृतिमें चामुण्डाकी मूर्ति है। मूर्तिके हाथ-पैर आदि अङ्ग नहीं हैं। सिंदूरके लेपसे विशाल खण्ड आवृत है। वैसे कोई इसे 'छिन्नमस्ता' कहते हैं और कोई 'सप्तशती'में वर्णित चण्ड-मुण्डविनाशिनी 'चामुण्डा'से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। नगरकी यह आराध्या देवी है।

गणेशजी

यह मन्दिर वृन्दावनमार्गमें है। यमुनातटपर एक विशाल मिट्टीके शिखरपर मन्दिर निर्मित है। गणेशजीकी बुद्धिमत्ताका यह परिचायक है। एक बार गणेश और कार्तिकेयमें होड़ हुई कि पृथ्वीकी परिक्रमा कौन जल्दी करके आये। कार्तिकेय तो पृथ्वीकी ओर दौड़े; परंतु गणेशजीने विष्णुभगवान् (वाराह)की परिक्रमा कर ली, जिनकी दंष्ट्रापर पृथ्वी स्थित थी। तबसे गणेश यहाँ विद्यमान हैं। इस मूर्तिमें अनेक देवी-देव उत्कीर्ण हैं।

माघ मासमें पञ्चामृतस्नानके समय सर्वाङ्गके दर्शन कराये जाते हैं। इसी प्रकार दूसरी गणेश-प्रतिमा दशभुजी गणेशकी नगरके मध्यमें है, जिनकी १० भुजा हैं। मनुष्यके आकारसे भी बड़ी प्रतिमा है।

गोकर्णनाथ

मथुराकी प्राचीन मूर्तियोंमें गोकर्णनाथ भी विलक्षण हैं। यह शिव-प्रतिमा है। हाथमें कुंडी सोटा लिये हैं।

इस प्रकारका चिह्न भारतमें अन्यत्र कहीं नहीं है। पुराणके अनुसार यहाँ भागवतमें वर्णित प्रसिद्ध धुन्धुकारी प्रेतके भाई गोकर्णने तपस्या की थी, तभीसे 'गोकर्णतीर्थ' नामसे इसकी प्रसिद्धि है।

भूतेश्वर महादेव

भूतेश्वर यहाँके कोटपाल हैं। मथुराके संकल्पमें प्रत्येक व्यक्ति आज भी 'भूतेश्वरक्षेत्रे' कहकर इनका स्मरण करता है। इनकी प्रतिमा अर्ध मनुष्यके आकारकी लंबाईकी है और स्वयं निःसृत है। इसी प्रकार रंगेश्वर महादेवके सम्बन्धमें भी कथानक प्रचलित है कि यह मूर्ति कंसवधके पश्चात् कृष्ण-बलरामके बलका गान करती हुई भूमिसे निःसृत हुई थी।

सूरदासकी राधा

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, साहित्यरत्न, शिक्षाशास्त्री)

हिंदी साहित्यके भक्तिकालीन कवियोंमें महात्मा सूरदासका नाम अत्यन्त श्रद्धा, भक्ति और आदरके साथ लिया जाता है। कृष्णभक्तिशाखाके अष्टछाप कवियोंमें महाकवि सूरदास-का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्लके शब्दोंमें 'आचार्योंकी छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्णकी प्रेमलीलाका कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदासकी वीणाकी थी।'

अपनी नवीन उद्भावनाओं, कोमल कल्पनाओं और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण व्यञ्जनाओंके कारण आज महाकवि सूरदासजी हिंदी साहित्यके सर्वोच्च आसनपर आरूढ़ हैं। परंतु हिंदी साहित्यको सूरदासकी जो सबसे बड़ी देन है, वह है उनकी 'राधा'।

आज सूर-जयन्तीके अवसरपर हम सूरदासकी राधाकी एक अनुपम झाँकी प्रस्तुत कर रहे हैं।

अपने अमर ग्रन्थ 'सूरसागर'में सूरदासजीने श्रीराधाके लौकिक और अलौकिक—दोनों रूपोंका वर्णन किया है। दूसरे शब्दोंमें राधाकी अवतारणामें महाकविने उभय पक्षोंपर ध्यान दिया है। पहला तत्त्व-निरूपण और दूसरा लीला-वर्णन।

राधाके विषयमें सूरदासका कथन है कि राधा प्रकृति हैं और श्रीकृष्ण पुरुष हैं। दोनों एक ही हैं। उनमें जो भेद बतलाया गया है, वह शब्दोंका भेद है, वास्तविक नहीं। राधा-कृष्णके विकासमें सांख्यके प्रकृति-पुरुषकी मान्यताका सूरने स्पष्ट समर्थन किया है। जैसे गुण गुणीसे अलग नहीं होता, उसी प्रकार सीता-राम, राधा-कृष्ण, प्रकृति-पुरुषका यह सम्बन्ध कोई नवीन नहीं है; परंतु व्रजमें बसकर इसको भुलाया जा चुका है—

१. व्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ।
प्रकृति-पुरुष एकै करि जानहु, बातनि भेद करायौ॥

२. प्रकृति-पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि गयी।

डाक्टर मुंशीरामजी शर्माने 'सूर-सौरभ'में राधा-कृष्णके स्वरूपकी व्याख्या करते हुए उन्हें सांख्यके प्रकृति-पुरुष, वेदान्तके माया-ब्रह्म, तन्त्रके शक्ति-शिव और वैष्णवोंके श्री-विष्णु और लक्ष्मी-नारायणके रूपमें देखनेका प्रयास किया है। उनके अनुसार तात्त्विक रूपमें सभी एक हैं; भेद केवल दृष्टिका है।

इस प्रकार सूरकी राधाका ठीक वही स्थान है जो तुलसीकी सीताका है। सीताकी तरह ही राधा भी जगत्-जननी हैं, क्लेशहारिणी हैं।

वस्तुतः ब्रह्मकी एक ही शक्तिके सीता और राधा—दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। एक ही शक्तिके दो भिन्न-भिन्न रूप होनेके कारण सूरदासजीने राधा-लक्ष्मी और राधा-सीतामें किसी प्रकारका अन्तर नहीं माना है। अवतारवादकी दृष्टिसे जिस प्रकार राम और कृष्णमें अभिन्नता है, उसी प्रकार सीता और राधामें भी—

समुझि री नाहिंन नई सगाई।
सुनु राधिके तोहिं माधव सों प्रीति सदा चलि आई॥

× × ×

प्रकृति-पुरुष, श्रीपति, सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इती रस-रीति स्याम सों तैं ब्रज बसि बिसराई॥

राधा-तत्त्वका विवेचन करते हुए सूरदासजीका कथन है कि राधा जगत्के नायक जगदीशकी प्यारी हैं, जगज्जननी हैं

तथा जगत्की स्वामिनी हैं। गोपाललालके साथ उनका विहार वृन्दावनमें नित्य ही चलता रहता है—अविरल गतिसे, जो कभी अन्तको नहीं पाता। श्रीराधा अशरणको शरण देनेवाली हैं, संसारके भयको दूर करनेवाली हैं, भक्तोंकी रक्षिका हैं तथा मङ्गलदात्री हैं। रसना एक है, सौ नहीं है कि श्रीराधाकी शतकोटिक अपार शोभाका यथावत् वर्णन कर सके। श्रीराधाके माध्यमसे श्रीकृष्णकी भक्ति सुलभ है। अतः भक्तकवि सूरदासजी श्रीकृष्णभक्तिकी प्राप्तिके लिये श्रीराधाजीसे प्रार्थना करते हैं—

जगनायक जगदीसपियारी, जगतजननि जगरानी।
नित विहार गोपाललाल-सँग, बृंदावन रजधानी॥
अगतिनकी गति, भक्तनकी पति, श्रीराधापद मंगलदानी।
असरनसरनी, भवभयहरनी, बेद-पुरान बखानी॥
रसना एक नहीं सतकोटिक, सोभा अमित अपारी।
कृष्णभक्ति दीजै श्रीराधे 'सूरदास' बलिहारी॥

(सूरसागर, दशमस्कन्ध)

इस प्रकार महाकवि सूरदासने राधा-तत्त्वका निरूपण करते हुए राधाजीको आदिशक्ति, मूलप्रकृति जगन्माताके रूपमें चित्रित किया है।

लीला-वर्णनके अन्तर्गत सूरदासने संयोग-पक्ष और वियोग-पक्ष—दोनोंपर अपनी लेखनी चलायी है। उन्होंने श्रीराधिकाके चित्रणमें भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके प्रति उनके विमल स्नेह तथा उनके वियोगमें अरुन्तुद विरहके वर्णनमें अपनी निर्मल प्रतिभाका विकास दिखलाया है। सूरके सामने राधा-कृष्णके लीला-प्रसङ्गका एक व्यापक क्षेत्र खुला था, जिसका कोना-कोना उन्होंने अपने प्रातिभ चक्षुओंसे निरखा था। परिणामस्वरूप विविध दशाओंमें राधारानीके मनोभावोंका—स्नेहकी विभिन्न भावना-भूमिका जितना सुचारु, सरस तथा सुरस वर्णन सूरने प्रस्तुत किया है, उतना हिंदी-साहित्यका कोई भी कवि न कर सका। इसीलिये डाक्टर श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदीने लिखा है कि 'सूरदासने राधिकाके जिस रूपका चित्रण किया है, उसकी तुलना शायद ही किसी अन्य भक्तके चित्रणसे की जा सके। चिर साहचर्य और वात्सल्यकी भूमिकाके ऊपर प्रतिष्ठित ये राधिका अपना उपमान स्वयं ही हैं।'

राधा और कृष्णके प्रेमका आरम्भ सूरदासने रूपमें आकर्षणसे ही किया है। यथा—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये स्याम रवितनयाके तट अंग लसति चंदन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दियें रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥

यह संयोग शृङ्गारका प्रारम्भ है। आगे यह संयोग अधिक प्रगाढ़ होता जायगा। तभी तो वह अवस्था आयेगी, जिसे वियोग कहते हैं। कृष्ण और राधाका परस्पर परिचय होता है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
'कहाँ रहति, का की तू बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥'
'काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद-ढोटा, करत रहत माखन-दधि चोरी॥'
'तुम्हरी कहा चोरि हम लै हैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।'
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इस खेल-ही-खेलमें इतनी बड़ी बात पैदा हो गयी जिसे 'प्रेम' कहते हैं।

सूरका संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है; प्रेम-संगीत-मय जीवनकी एक गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवालेको दिव्य माधुर्यके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखायी पड़ता। राधा-कृष्णके रंग-रहस्यके इतने प्रकारके चित्र सामने आते हैं कि सूरका हृदय प्रेमकी नाना उमंगोंका अक्षय भण्डार प्रतीत होता है।

राधा और कृष्णका साथ अब तो गाय चराते समय वनमें भी हो जाता है। राधा कृष्णके घर भी आती हैं और यशोदामैया उनके ऊपर संदेह करके उन्हें आनेसे बरजती हैं—

'बार-बार तू ह्यां जनि आवै'।

इसके उत्तरमें राधिकाद्वारा कृष्णकी रतिका कितना उत्कृष्ट अङ्कन सूरदासने किया है—

'मैं कहा करौं, सुतहि नहिं बरजति घर तें मोहिं बुलावै॥
माँ सौं कहत तोहिं बिनु देखें रहत न मेरो प्रान।
छोह लगत मोकों सुनि बानी, महरि! तिहारी आन॥'

कितना सुन्दर और पूर्ण चित्रण किया है सूरदासजीने, जिसमें आलम्बन और उद्दीपन दोनों पक्षोंका कितना स्वाभाविक वर्णन है।

एक दिन ऐसा भी आता है, जब माता यशोदा राधिकाजीका परिचय पूछती हैं—'नामु कहा है तेरौ प्यारी ?' और फिर परिचय पाकर वह राधाजीको सँवारती हैं। तत्पश्चात् श्रीकृष्णके साथ खेलनेकी अनुमति दे देती हैं। इस प्रकार बाल्यकालसे ही राधा-कृष्णका प्रेम सहज-स्वाभाविक रूपमें विकसित होता है—दोनोंके मनमें एक दूसरेके लिये उत्सुकता बनी रहती है—

'राधा विनय करत मन ही मन
सुनहु नाथ अंतरके यामी।
मातु-पिता कुल कानहिं मानत,
तुमहिं न जानत हैं जगस्वामी॥'

वस्तुतः यह कामना किसी विलासवतीकी नहीं है, यह भक्तकी कामना है। यह ऐकान्तिक नित्य प्रेम है, आकस्मिक नहीं और यह दीर्घकालके साहचर्यसे उत्पन्न हुआ है। भवभूतिने राम और सीताके प्रेममें दीर्घ साहचर्यजनित इसी गाढ़ताका दर्शन पाया था।

सूरने राधाको लेकर कई मौलिक उद्भावनाएँ की हैं जो न भागवतमें हैं, न पूर्ववर्ती कवियोंमें। इनमें प्रमुख है—रासके अवसरपर राधा-कृष्णके विवाहका वर्णन। महाकवि सूरने रासमें श्रीकृष्णके साथ राधाजीका विवाह विधिवत् सम्पन्न करा दिया है, जिसमें किसी प्रकारकी विरुद्ध टीका-टिप्पणीके लिये तनिक भी अवकाश न रह जाय। उनका कथन है कि श्रीकृष्णको पति बनानेकी भव्य भावनाकी सिद्धिके निमित्त ही गोपियोंने माता कात्यायनीका व्रत किया था और रासके रूपमें उसी व्रतकी सिद्धि सर्वथा लक्षित होती है। अतः सूरदासने राधाका परम स्वकीयाके रूपमें चित्रणकर उन्हें पूर्णतया गीतिकाव्यात्मक पात्र बना दिया है। वह न केवल स्वकीया हैं, वरं उनका प्रेम चिर-साहचर्यजनित है।

सूरदासने राधाका चित्रण कृष्णकी आह्लादिनीशक्तिके रूपमें किया है। इसलिये जब कभी युगलमूर्तिका मिलन होता है—सारी वनस्थली चकित होकर निर्निमेष भावसे शोभाके इस अपार सागरको देखा करती है और इस दिव्य मिलन-संगीतको गाते सूरदास जैसे रुकना ही नहीं जानते।

वियोगमें तपकर ही प्रेमका वास्तविक स्वरूप निखरता है। प्रेमके इसी पक्षको प्रत्यक्ष करनेके लिये ही श्रीराधा और गोपियोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी वियोग-लीला हुई।

महाकवि सूरदासके राधा-विरहमें इतनी स्वाभाविकता है कि हृदयपर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। उसमें किसी प्रकारकी कृत्रिमताकी गन्ध भी नहीं है। श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर राधाजीकी विचित्र दशा हो गयी है। प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रकी विरह-व्यथाने उन्हें अत्यन्त विकल बना दिया है। अपना मन बहलानेके लिये वे प्रायः वीणाके तारोंपर अपने प्राणधन, परम प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रके गुणोंका गान करती रहती हैं और एक दिन तो विचित्र घटना होती है। रातमें जब वे वीणा लेकर बैठती हैं तो वीणाके स्वरसे मोहित होकर चन्द्रमाके रथका हिरन अड़ जाता है और इस प्रकार चन्द्रमाके रुक जानेसे रात और भी बढ़ जाती है। इसपर घबराकर श्रीराधाजी सिंहका चित्र बनाने लगती हैं, जिससे मृग डरकर भाग जाय। सूरकी यह उद्भावना सचमुच बड़ी ही अनूठी है।

राधाजीके दुःसह विरहको देखकर प्रकृति भी अत्यन्त दुखित हो उठी है। वह कमनीय यमुना विरहके कारण काली पड़ गयी हैं। परंतु राधा पूछती हैं कि मथुराकी प्रकृति वृन्दावनसे भिन्न है क्या ? उधर मेघका गरजना, बिजलीका कौंधना, दादुरका बोलना—पावसमें शृङ्गारके प्रकृत उद्दीपन—विद्यमान नहीं है क्या ? जिससे श्रीकृष्णका हृदय इस विरहमें भी पीड़ित नहीं होता और न वे हमसे मिलनेका ही प्रयास करते हैं—'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि' पद द्रष्टव्य है।

'जब तैं बिछुरै कुंजबिहारी' (पद ३८७५) में कृष्णके वियोगमें राधाकी दीन दशाका बड़ा ही भव्य वर्णन सूरने किया है। भारतीय प्रेम-पद्धतिके समग्र प्रतीकोंका उपयोग यहाँ किया गया है।

व्रजमें उद्धवके आगमनपर, उनके ज्ञानोपदेशके समय प्रायः सभी गोपिकाएँ उद्धवकी नीरस ज्ञानचर्चाको सुनकर उन्हें बुरा-भला कहती हैं, कहीं-कहीं श्रीकृष्णको भी खरी-खोटी सुनाती हैं, परंतु श्रीराधाको हम ऐसा करते हुए नहीं पाते। सूरदासने राधाको इस प्रसङ्गमें न लाकर असीम मर्यादा एवं अपनी काव्यकलाका बड़ा ही सुन्दर परिचय दिया है। राधा स्वकीया जो ठहरीं। वह अन्य गोपियोंकी भाँति

अपने प्रियतमकी निष्ठुरताकी चर्चा पर-पुरुषसे, भले ही वह प्रियका सखा ही क्यों न हो, कैसे करतीं और सच पूछिये तो संसारकी किसी भाषामें वह शक्ति भी है क्या जो उस महावियोगिनीकी असीम वेदनाका यथावत् चित्रण कर सके ? नहीं, कदापि नहीं । इसीलिये उस तपस्विनीके दर्शनमात्रसे ब्रह्मज्ञानी उद्धवके हृदयपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ता है कि वे अपने अक्षय ज्ञानरूपी सम्पत्तिको श्रीराधा-चरणोंमें समर्पित कर सच्चे मन, वचन और कर्मसे पूरे भक्त बन जाते हैं ।

सूरदासजीने भी राधा तथा गोपियोंका श्रीकृष्णचन्द्रसे कुरुक्षेत्रके तीर्थमें मिलन कराया है । इतने दिनोंके दीर्घ प्रवास तथा तीव्र विरहके बाद इस मिलनमें कितना सुख है, कितना आकर्षण है, इसका वर्णन किन शब्दोंमें किया जाय ? यह सम्मेलन श्रीकृष्णकी दो प्रियतमाओं—राधा और रुक्मिणीका प्रथम समागम है । फलतः, दोनोंका कौतुक शान्त होना स्वाभाविक है; परंतु राधाकी लालसा कृष्णके दर्शनकी ही है । कौतुक और जिज्ञासाका उदय रुक्मिणीजीके हृदयमें ही जगता है । वह श्रीकृष्णसे पूछती हैं—'इन गोपियोंमें तुम्हारे बालपनकी जोड़ी राधा कौन-सी है ?'—इसके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रका उत्तर अनुरागसे भरा हुआ है । यह पूरा प्रसङ्ग राधाका प्रथमतः रुक्मिणीसे और तदनन्तर श्रीकृष्णसे भेंट बड़ा ही सरस तथा मर्मस्पर्शी है—

बूझति हैं रुक्मिनि पिय इनमैं को वृषभानुकिसोरी ।
नैकु हमैं दिखरावहु अपनी बालापन की जोरी ॥
परम चतुर जिन्ह कीन्हैं मोहन, अल्प बैस ही थोरी ।
बारे तैं जिनि इहै पढ़ाये, बुधि-बल-कल विधि चोरी ॥
जाके गुन गनि ग्रंथित माला, कबहुँ न उर तैं छोरी ।
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत-उत मोरी ॥
वह लखि जुवति-बृंदमें ठाढ़ी नीलबसन तनुगोरी ।
सूरदास मेरो मन वाकौ, चितवन बंक हरयौ री ॥

—पद ४९०४

रुक्मिणी तथा राधाकी भेंटका वर्णन सूरदासने इन सरस शब्दोंमें किया है—

रुक्मिनी राधा ऐसे भेंटीं ।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरीं एक बाप की बेटीं ॥
एक सुभाउ एक वय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी ।
एक प्रान मन एक दुहुँन कौ, तनु करि दीसति न्यारी ॥
निज मंदिर लै गयीं रुक्मिनी, पहुनाई बिधि ठानी ।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहाँ दोऊ ठकुरानी ॥

—पद ४९०९

माधवके साथ श्रीराधाका मिलन बड़ा ही संयत, हृदयावर्जक तथा मनोमोहक है । सूरदासने इस अवसरपर अपनी विमल प्रतिभाका विलास दिखलाया है—

राधा माधव भेंट भई ।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वैजु गई ॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई ।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई ॥
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई ।
सूरदास प्रभु राधा-माधव ब्रज बिहार नित नई नई ॥

—पद ४९१०

राधा-माधवके मिलनकी यही अन्तिम झाँकी है । दोनोंके नित्य निरन्तर विद्यमान प्रेमका वर्णन रसनाके वशकी बात नहीं । राधा-माधवमें कोई अन्तर नहीं । दोनोंका ब्रजविहार नित्य नूतन है ।

इस प्रकार सूरदासने श्रीराधाका चरित्र-चित्रण ऐसे सुन्दर ढंगसे किया है, जिसमें हमें सच्ची प्रेमिकाका उज्ज्वल चरित्र मिलता है, जो विरहकी असह्य ज्वालामें जलती है, पर उफ्तक नहीं करती, जिसका त्याग हिमाद्रिसे भी उच्च है, परंतु नम्रताके कारण झुका हुआ; जिसकी कर्तव्य-भावना प्रस्तरसे भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीत-वत् कोमल, जिसे माखनप्रिय नवनीतचोर श्रीकृष्णने हँसते-खेलते ही चुरा लिया । वास्तवमें सूरकी राधा एक ऐसी देन है, जिसको भुलाया नहीं जा सकता ।

कामके पत्र

(१)

साधन-सम्बन्धी कई प्रश्नोंके उत्तर

सादर प्रणाम। पत्र मिला था। आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

(१) भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा—ये लीलाभेदसे अलग-अलग हैं; इसी लीलाभेदसे ही इनके रूप, गुण, लीलाकार्य और उपासना-पद्धति आदिमें भेद है। तत्त्वस्वरूपमें सर्वथा एकत्व है; कहीं भी कुछ भी भेद-कल्पना नहीं है। अतएव इनको छोटा-बड़ा मानकर किसीका तिरस्कार करना सर्वथा अज्ञान तथा अपराध है। सबको एक मानकर ही अपने इष्टरूपकी उपासना करनी चाहिये और उस अपने इष्टके ही ये सब विभिन्न लीलारूप हैं—यों मानकर सभीका सम्मान करना चाहिये।

(२) 'राम' निश्चय ही भगवान्‌का नाम है, ऐसे ही और अनेक नाम हैं। जिनको जिस नाममें रुचि हो, उसीका जप करना चाहिये। आप रामनामका जप करते हैं, सो बहुत ठीक है। यही करते रहिये। उनकी बात कभी मत मानिये जो कहते हैं कि 'राम' भगवान्‌का नाम नहीं है।

(३) चलते-फिरते, शुद्धि-अशुद्धि— सभी अवस्थाओंमें रामनामका जप किया जा सकता है। उच्चारण करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। अवश्य ही श्वाससे होनेवाला तथा अन्य प्रकारका मानस-जप विशेष महत्त्व रखता है।

(४) खानपान स्वास्थ्यके अनुकूल, सात्त्विक, सादा तथा नियमित होना चाहिये। न तो स्वास्थ्यके प्रतिकूल वस्तुओंका सेवन करना चाहिये, न स्वास्थ्यके अनुकूल वस्तुओंके त्यागका आग्रह करना चाहिये। अवश्य ही मांस, मद्य, अंडे, तामसिक पदार्थ तथा जूठनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। भगवान्‌ने 'युक्त' (जिसके लिये जो, जब आवश्यक हो, उतना, वैसा ही) आहार करनेकी आज्ञा दी है और उसे दुःखनाशक बतलाया है। जीभके स्वादवश राजस-तामस वस्तुओंका सेवन नहीं करना चाहिये।

(५) घृणा-द्वेषमूलक तथा ऊँच-नीचभावसे होनेवाली अस्पृश्यता निश्चय ही बुरी चीज है। शास्त्रोंमें घृणामूलक अस्पृश्यताका उल्लेख नहीं है। जहाँ प्राणिमात्रमें एक ही भगवान् या एक ही आत्माका सिद्धान्त मान्य है, वहाँ घृणाके लिये कहीं कोई कल्पना भी कैसे हो सकती है? अतएव हिंदूशास्त्रकथित अस्पृश्यता घृणामूलक नहीं, विज्ञान-मूलक है।

(६) दूसरोंके द्वारा काममें लिये हुए धोती, कुर्त्ते-कमीज, अँगोछे, कम्बल, चादर, रजाई आदिका सेवन नहीं करना चाहिये। दूसरोंके बिछौनोंपर भी नहीं सोना चाहिये। दूसरोंके साथ एक बर्तनमें भोजन नहीं करना चाहिये और साधना-उपासना-जप आदिमें दूसरेके आसनको, दूसरेकी मालाको काममें नहीं लाना चाहिये। ऐसा न करनेपर दूसरोंके रोग तथा विचार-परमाणुओंका अपनेमें संक्रमण होगा, जिससे तन-मनके नवीन रोगोंकी उत्पत्ति होगी तथा साधनामें विघ्न आ जायगा।

(७) माता-पिता तथा घरमें जो बड़े हों, उनको प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिये। इसमें लज्जा न करके गौरव मानना चाहिये। स्त्री अपने पिता, पति आदिके सिवा अन्य किसीके भी चरणका स्पर्श न करे। नमस्कारसे, जिनको नमस्कार किया जाता है उनके मनमें नमस्कार करनेवालेके प्रति सद्भाव, स्नेह तथा कल्याण-कामनाका उदय होता है और नमस्कार करनेवाला उनसे दुर्व्यवहार करना छोड़ देता है। सोचता है, अभी तो नमस्कार किया था, अब लड़ूँ कैसे?

मेरा शरीर इधर कुछ शिथिल रहता है—जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु—शरीरके साथ रहते ही हैं। स्वस्थ तो वह है जो 'स्व' (आत्मा या भगवान्‌में) स्थित हो। शेष तो सब अस्वस्थ ही हैं। शेष भगवत्कृपा।

(२)

संसारकी वर्तमान स्थिति

प्रिय महोदय, सादर नमस्कार। आपका पत्र मिला था। आपने लिखा कि आपके पड़ोसी सज्जन बिना कारण

आपसे द्वेष करते हैं, जब कि आप उनके साथ अच्छा व्यवहार-बर्ताव करना चाहते हैं। सो सम्भव है, ऐसा ही हो; उनके मनमें आपके प्रति किसी कारणवश द्वेषबुद्धि हो गयी हो; पर जैसा आपने लिखा है, तदनुसार आप उनके साथ अच्छा व्यवहार-बर्ताव करनेकी ही इच्छा रक्खें। इच्छा ही नहीं, अपनी ओरसे प्रेम तथा नम्रतायुक्त अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करें, समयपर बिना उन्हें जताये उनकी सेवा करें, उनका हित-सम्पादन करें। मनसे तो सदा उनका भला चाहें ही। इस प्रकार करनेपर उनका मन बदल जायगा; उनके मनमें आपके प्रति जो दुर्भावना है, वह नष्ट हो जायगी। यों आप उनका उपकार करेंगे और इसके फलस्वरूप आपके हृदयमें सद्भावोंकी और भी वृद्धि होगी।

पर ऐसा भी सम्भव है कि आपको प्रत्यक्षमें ज्ञात न होनेपर भी आपके अज्ञात मनमें उनके प्रति द्वेषबुद्धि हो और वही आपके प्रत्यक्ष मनमें आपके प्रति उनकी द्वेषबुद्धि होनेका संदेह पैदा किये हुए हो और वही उत्तरोत्तर बढ़ रहा हो। किसीके प्रति हमारे मनमें यह संदेह हो जाता है कि अमुक व्यक्ति हमसे द्वेष करता और हमारा अनिष्ट करता है तो क्या होता है?—

हम उसकी प्रत्येक चेष्टा संदेहकी दृष्टिसे देखते हैं और इसलिये कभी-कभी हमसे न चाहते हुए भी उसके साथ रूखा बर्ताव हो जाता है। इससे उसके मनमें भी हमारे प्रति संदेह हो जाता है और वह भी हमसे कभी रूखा बर्ताव कर बैठता है। तब हमारा संदेह और पक्का हो जाता है, वैसा ही व्यवहार होने लगता है, फलतः उसका संदेह भी दृढ़ हो जाता है।

अब हम पड़ोसी, जहाँ एक दूसरेपर विश्वास करके एक दूसरेको रक्षक-सहायक मानते थे और दोनोंके बलसे बलवान् मानते थे, वहाँ एक दूसरेसे चौकन्ने हो जाते हैं, कहीं वह हमारा अनिष्ट न कर दे, इस बुद्धिसे सदा अपनी रक्षा करना चाहते हैं। वह सहायक-रक्षकके बदले विनाशक शत्रु प्रतीत होने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि संदेह-दृष्टि होनेके कारण किसी चेष्टाको, चाहे वह निर्दोष तथा सहज ही हो, दूसरा मान लेता है कि बस, अब वह हमपर प्रहार करनेवाला है, इससे हम पहले ही क्यों न कर दें, हम उसपर प्रहार कर बैठते हैं। अब तो उसका निश्चित मत हो जाता है कि 'यह हमें मारना ही चाहता है। हम भूलमें रहे जो पहले प्रहार नहीं किया।' फिर प्रत्यक्ष शत्रुतापूर्ण लड़ाई बढ़ जाती है। अब हम और वह दोनों ही एक दूसरेके विनाशके लिये सोचते हैं, जिससे दोनोंके हृदय जलने लगते हैं। यह द्वेषकी अग्नि परिवारमें फैलती है और फिर इष्ट-मित्रोंमें जाकर दलबंदीके रूपमें दोनों ओर बहुत-से लोगोंका परस्पर विनाशकारी 'शत्रुपक्ष' तैयार कर देती है। द्वेषकी आगसे रात-दिन जलन रहती है। नींद-भूख हराम हो जाती है। उन्नति तथा प्रगतिकारक काम-धंधोंसे मन हट जाता है; उनके लिये सोचनेको भी अवकाश नहीं मिलता। दिन-रात विनाशकारी हिंसक विचारोंका चिन्तन, नया-नया निर्माण और विस्तार होता रहता है।

परस्पर संहारके विचार बद्धमूल होकर क्रियाशील होने लगते हैं। विनाशके साधनोंका निर्माण किया जाता है। बहुत आवश्यक मानकर विनाश-साधन-निर्माण तथा संग्रहके लिये बेहद खर्च करना पड़ता है, समय नष्ट होता है, सद्बुद्धि नष्ट होती है, सदाचार तथा सद्विचार मर जाते हैं और अन्तमें मानवताका नाश होनेसे मनुष्य अत्यन्त क्रूर राक्षस बन जाता है।

आज केवल व्यक्तियोंमें ही नहीं, छोटे-छोटे राज्योंमें ही नहीं, विश्वके बड़े-बड़े साम्राज्योंमें विनाश-साधनोंका निर्माण बड़े जोरोंसे हो रहा है। सारी बुद्धि, सारा प्रयत्न, सारा विज्ञान, सारी सम्पत्ति तथा सारी शक्ति प्रायः इसीमें लग रही है—सारे भूमण्डलमें एकराज्य, विश्व-मानव-भ्रातृत्व, विश्व-शान्तिकी बड़ी-बड़ी बातें होती हैं। पर बढ़ रहा है उत्तरोत्तर विश्व-शत्रुत्व। व्यक्ति-व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र परस्पर संदेहयुक्त होकर स्वार्थवश एक दूसरेके विनाश तथा संहारका उपाय सोच रहे हैं। इसीसे आज मानव दानव हो गया है। वह विशाल मानवरक्तधारासे समस्त मेदिनीको कलङ्कित करके अपने ही रक्तके एक अत्यन्त विस्तृत शोणित-समुद्रका निर्माण करनेमें लगा है। यह तामसी विपरीत बुद्धिका भयंकर परिणाम है।

कहीं जगत्‌की मानवजातिमें सद्बुद्धि होती तो मानव संदेह त्याग करके द्वेषके स्थानपर परस्पर प्रेमके विचार करता। विचार ही नहीं, क्रियारूपसे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रकी प्रेमपूर्ण सेवा करता, अपनी उन्नति-साधनके साथ ही पड़ोसी राष्ट्रकी तथा विश्वके समस्त देशोंकी उन्नति चाहता और उनकी उन्नतिमें सहायता करता। असंख्य धनराशि, जो संहार-

साधनोंके निर्माण तथा उसके कायम रखनेमें खर्च होती है, वह सृजनके पवित्र साधनोंमें खर्च होती । सभी एक दूसरेको रक्षक-सहायक मानकर निर्भय और निश्चिन्त रहते तथा सभी सुखकी नींद सोते। ऐसा होता तो जगत्में एक महान् मधुर अमृतसमुद्रका निर्माण हो जाता । पर इस समय तो जैसी विनाशकी आँधी चली है, उसमें इस प्रकारकी कल्पना करना भी हास्यास्पद है; आशा करना तो दूरकी बात है ।

आजके विश्वमें फैले हुए तथा नये-नये निर्मित होनेवाले सभी 'वाद' प्रायः इस विनाशकारी भयानक अग्निकी ही छोटी-बड़ी लपटें हैं, जो सारे विश्वको दग्ध कर देना चाहती हैं ।

इसमें भी उत्तरदायित्व व्यक्तियोंका ही है । व्यक्तियोंके समूहोंका नाम ही समाज, जाति, देश, राष्ट्र और विश्व है । और बड़े-बड़े राष्ट्रोंमें भी अशान्ति फैलानेवाले कुछ प्रमुख व्यक्ति ही होते हैं, जो थोड़ी दूरमें आग लगाते हैं; फिर तो प्रायः सभी उस अग्निमें ईंधन डालनेवाले, वरं स्वयं ईंधन ही बन जाते हैं ।

व्यक्तियोंके न्यूनाधिक अच्छे-बुरे विचारों और क्रियाओंके अनुसार उनके अपने कर्मफलरूपमें उनके भविष्यका निर्माण होता है । आजका विलास-विभ्रमरत, मोहावृत, भोगपरायण, मिथ्या बुद्धि-ज्ञान-ऐश्वर्यके मदसे मदान्ध, विवेकबुद्धिरहित, प्रवाहपतित मनुष्य चाहे न समझे, न स्वीकार करे, कर्म तथा कर्मफलको न माने, पर वह कर्मफलके भोगसे कभी बच नहीं सकता । संसारके विभिन्न स्थितियोंको प्राप्त जीवमात्र इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

प्रत्येक मनुष्य अपने दायित्वको समझे और प्रयत्न करके अपनेको निर्दोष बना ले तो समाज—राष्ट्र अपने ही ठीक हो जायँगे; क्योंकि राष्ट्र मनुष्योंके बड़े समुदायसे बने हैं । और कदाचित् न भी ठीक हों, जिसकी सम्भावना नहीं है, तो वह मनुष्य तो ठीक हो ही जायगा और फलतः वह अपने उज्ज्वल सुख-शान्तिपूर्ण भविष्यका निर्माण करनेवाला होकर जगत्के जीवोंमें भी सहज ही सुख-शान्ति-वितरणका सौभाग्य प्राप्त करेगा ।

आप स्वयं विज्ञ पुरुष हैं । अतः आपसे मेरा नम्र-निवेदन है कि आप बुरा करनेवालेका भी भला करें । फलतः अपने तथा जीवमात्रके कल्याण-साधनमें सहायक बनें—साधु व्यवहारका अनुसरण करके धन्य हों—

उमा संत कै यहै बड़ाई ।
मंद करत सो करत भलाई ॥

शेष भगवत्कृपा

(३)

पहले अपना सुधार करो

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण ! तुम्हारा पत्र मिला । माना, तुम्हारा विचार तथा कथन ठीक है; (बेठीक भी हो सकता है, क्योंकि रागवश मनुष्यको अपना विचार निर्दोष दीखा करता है ।) पर वह जब तुम्हारे विचारसे सहमत नहीं है, तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं करता, लड़ता-झगड़ता भी नहीं, केवल अपने विचारपर स्थिर रहकर वैसा ही करना चाहता है, यह तुम भी मानते हो कि उसका कार्य कैसे निर्दोष है; फिर भी तुम उसे बार-बार डाँटते हो, उसपर नाराज होते हो, क्रोध करते हो । जब तुम अपनी इस बुरी आदतको नहीं बदल सकते, तब वह अपने विचारको क्यों और कैसे बदल दे ? भैया ! पहले तुम अपना सुधार करो । अपने ऊपर नियन्त्रण करो । यही तुम्हारा कर्तव्य है—धर्म है । उसके साथ यथासाध्य प्रेम, स्नेह तथा नम्रताका मधुर बर्ताव करो । अपने विचारको मनवानेका भी यही तरीका है । शेष भगवत्कृपा ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पेट-दर्दका कारण—क्रोध

मेरे एक मित्रको बहुत समयसे पेटके दर्दका रोग था। बहुत-से डाक्टरोंकी दवा की गयी। एक दिन एक युवक वैद्यराज मिले। वैद्यराजने मेरे मित्रकी शारीरिक परीक्षा की। फिर, अबतक किन-किनकी, कौन-कौन-सी दवा दी गयी, यह हमलोगोंने उनको बताया। उन्होंने अपनी बुद्धिके अनुसार पुड़िया तथा गोलियाँ दीं। यों कुछ दिन दवा हुई। मेरे मित्रको कुछ आरामका भी अनुभव होने लगा। दवा चालू रही, किंतु कुछ ही दिनों बाद दर्द बढ़ने लगा। तब मित्रने वैद्यराजसे कहा—'वैद्यराजजी! यह दर्द तो फिर शुरू हो गया। यों तो हमने बहुत वैद्य-डाक्टरोंकी दवा करायी है। हम तो आपके पास इसलिये आये हैं जिसमें रोग पूर्णरूपसे निर्मूल हो जाय।'

वैद्यराज कुछ देर तो विचार करते रहे। फिर उन्होंने कहा कि 'आप मेरा दवाखाना बंद हो, उससे पहले वहाँ आइयेगा; अकेले ही, किसीको साथ न लाइयेगा।'

मेरे मित्र रोज रातको आठ, साढ़े आठ बजेके लगभग वहाँ जाते और बड़ी रात बीतनेपर लौटते। इस प्रकार दो महीने बीतनेपर उनको पूरा आराम हो गया और रोगसे मुक्ति मिल गयी।

मुझे भी आश्चर्य हुआ। अवश्य ही इन वैद्यजीके पास कोई ऐसी वंशानुक्रमकी जड़ी-बूटी होगी, नहीं तो कैसे रोग मिटता? अच्छे-अच्छे डाक्टर भी मेरे मित्रको रोग-मुक्त नहीं कर सके थे। मैं उन वैद्यराजजीसे मिला और जड़ी-बूटीके सम्बन्धमें उनसे जानना चाहा। उन्होंने कहा—'मेरे पास कोई भी जड़ी-बूटी नहीं है तथापि आप रोगीके मित्र हैं, इससे आपको बता देता हूँ। आपके मित्र पढ़ते हैं। वे अपने बड़े भाई तथा भाभीके साथ रहते हैं। आपके पड़ोसमें एक आदमी ऐसा है जो इन भाईको परेशान करता रहता है।'

मैंने पूछा—'सो कैसे?'

वैद्यराजजीने कहा—''वह आदमी इन्हें हैरान करनेके लिये इनके भाईके नाम टाइप किये हुए बेनामी पत्र भेजता। उस पत्र-लेखकपर इनको बड़ा ही गुस्सा आता। पत्र लिखनेवालेको ये पहचानते थे। पर उसपर कैसे क्या इल्जाम लगाकर उसे सीधा करना, इस विचारमें ये मिथ्या क्रोध करते रहते। उन्हें उठते-बैठते हरेक क्षण यही चीज मनमें डंक मारा करती। मुझसे जब यह बात आपके मित्रने बतायी, उस समय भी इनके मुखसे 'पत्र लिखनेवाले-की हड्डी खोखली कर दूँगा'—ऐसे उग्र शब्द निकल रहे थे और बड़े जोरसे ये मेरी टेबलपर हाथ पटक रहे थे।''

मैंने पूछा—'वैद्यराजजी! पत्रकी बातका रोगके साथ क्या सम्बन्ध है?'

वैद्यराजजी बोले—''सम्बन्ध है। आपको सारी बातें पूरी जाननी हैं तो सुनिये। काम, क्रोध, लोभ और मोह—मानस रोगोंके उत्पन्न करनेवाले माने जाते हैं। ऐसी आयुर्वेदकी मान्यता है। आयुर्वेदमें भी मानसचिकित्साका वर्णन है। आपके मित्रके रोगका कारण 'क्रोध' था। वे पत्र-लेखकपर बार-बार काल्पनिक क्रोध किया करते। फिर मैंने उनको उलाहना देते हुए कहा—'देखो भाई! एक मनुष्य कोई नीच काम करता हो तो उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। आप अपने काममें मग्न रहिये। जो आदमी आपको हैरान करनेके लिये कार्य करता हो, आप उसे महत्त्व देकर व्यर्थ क्रोध करते हैं, इसीसे पेटके दर्दसे पीड़ित रहते हैं। आप दुखी होते हैं, यह देखकर आपको हैरान करनेवाले व्यक्तिको विशेष महत्त्व मिलता है। अतएव आपका मौन आपके इस शत्रुके लिये घोर अपमान है। अपने उसे मारनेका विचार भी किसलिये करें? अपने ऐसा विचार करना तो अपनी निर्बलता है। यदि आप क्रोध करना बंद नहीं करेंगे तो आपका यह रोग नहीं मिटेगा। अतएव मेरी सलाह मानकर इस बातको भूल जाओ।''

''आपके मित्रने मेरी सलाहको मान लिया। उस बातको धीरे-धीरे वे भूलते गये और इससे उनको रोगसे छुटकारा मिला। मूल निदान क्रोध था। आयुर्वेदमें रोगके निदानके लिये 'माधवनिदान' श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस 'माधवनिदान' में वात, पित्त, कफ—किन कारणोंसे बढ़ते हैं, इसपर तीन श्लोक लिखे हैं। 'क्रोधात्' शब्द लिखकर स्पष्ट बतलाया है कि 'क्रोधसे पित्त बढ़ता है।' आपके मित्र बारंबार क्रोध करते, इससे उनमें पित्तकी वृद्धि होती। पित्तका तीक्ष्ण गुण ही साथ-ही-साथ बढ़ता और इसी कारण पेटमें दर्द होता। दूसरे चिकित्सकोंने पित्त-शमनके लिये ओषधियाँ दीं, परंतु निदान-परिवर्जन न होनेके कारण रोग नहीं मिटता।'

मैंने पूछा—'निदान-परिवर्जन किसे कहते हैं ?'

वैद्यराजजीने कहा—'आयुर्वेदका प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत-संहिता है। सुश्रुत महर्षिने अपनी संहिताके उत्तर-तन्त्र प्रथम अध्यायमें यह स्पष्ट कहा है—

संक्षिप्तः क्रियायोगो निदानं परिवर्जनम्।

जिस कारणसे दोष प्रबल होता हो तथा रोगकी उत्पत्ति होती हो, उन कारणोंका त्याग करवाना—यह संक्षिप्त चिकित्सा है। आपके मित्रने मेरी सलाह मानकर क्रोध करना छोड़ दिया, इससे उनको रोगसे छुटकारा मिल गया।' (अखण्ड आनन्द)

—इन्द्रवदन एम० महेता

(२)

श्रीरामरक्षास्तोत्रका फल

मैं चार वर्षसे लगातार श्रीरामरक्षास्तोत्रका पाठ कर रहा हूँ। सन् १९६४ की बात है। मेरी बारह बीघा जमीन १५ वर्षसे पाँच हजार रुपयेमें सूदपर बंधक थी। बहुत यत्न किया। पर नहीं छुड़ा सका। सन् १९६४में पाठ शुरू किया। एक दिन एक सज्जनने अचानक मुझे बुलाकर कहा कि 'आपको जमीनका व्याज भरना है। महाजनको हमारे यहाँसे रुपये लेकर दे दीजिये। सात बीघे जमीन आप रखिये। पाँच बीघा ५०००) में मेरी रही। यह पाँच बीघा भी आपके ही दखलमें रहेगी। आप जैसा उचित समझें, इन्तजाम कर दें। मेरा आदमी न जमीन देखेगा, न फसल। आप ही मेरे आदमी हैं।' मैंने पाँच हजार रुपये उनसे लेकर महाजनको दे दिये और सारी जमीन मैं ही आबाद करता हूँ। पाँच बीघाकी आधी उपज उनको पहुँचा देता हूँ। यह रामरक्षास्तोत्रके पाठका प्रत्यक्ष फल है। तबसे मैं रोज पाठ करता हूँ।'

—बटेश्वरप्रसाद चौधरी

(३)

ईश्वर क्या खाता है ? अभिमान

आनन्दकन्द भगवान्‌की लीला विचित्र है। भगवान् करता क्या है ? पर्वतसे राई और राईसे पर्वत। तब भी मनुष्य क्षण-क्षण भूलता रहता है। कष्ट होनेपर भगवान्‌को स्मरण करता है। भगवान् कष्ट निवारण करते हैं। सुख पानेपर मनुष्य ऐश्वर्यका भोग करता है और धन, वैभव तथा अपनी बुद्धिका अभिमान करता है। रावण, बाणासुर, हिरण्यकशिपु प्रभुता पाकर अभिमानमें भूल गये। भगवान्‌की महिमाको जानकर भी उन्हींसे मोर्चा लिया और अन्तमें मिट्टीमें मिल गये। श्रीनारद-ऐसे ऋषि भगवान्‌की मायासे मोहित हो गये। कामदेवको जीतकर अभिमान आ गया। भगवान्‌ने अपने परम भक्तका अभिमान तोड़ा। अपने वाहन श्रीगरुड़जीका भी अभिमान श्रीभगवान्‌ने भङ्ग किया। भगवान्‌का प्रण है कि हृदयमें जब गर्वका तरु अङ्कुरित होगा तो मैं उसको अति शीघ्र उखाड़ डालूँगा। एक बार ऐसी ही घटना मेरे जीवनमें घटी। मेरे मुखसे अभिमानसे भरी बात निकल गयी। श्रीभगवान्‌ने कैसे मेरे अभिमानको चूर किया, उसका वर्णन करता हूँ।

लगभग अठारह वर्ष हुए, मैं सीतापुरमें उत्तरी रेलवेका पी० डब्लू० इन्सपेक्टर था। वहाँसे पूरे परिवारसहित अर्थात् अपनी पत्नी तथा पाँच बच्चों और एक नौकरके साथ श्रीजगन्नाथपुरी गया। जब तीसरे दिन समुद्र-स्नानके लिये जा रहा था तो फौलादी टोप पहिने एक मल्लाह मिला। उसने मुझसे कहा कि 'आपके साथ काफी बच्चे हैं, आप कहें तो आपके साथ चलकर मैं बच्चोंको ठीकसे स्नान करा दूँ।'

मैं अपनी युवावस्थामें एक कुशल तैराक रहा। अध्ययनकाल तथा रेलवे-सेवाकालमें प्रयागमें सन् १९१८ तथा ३० के कुम्भों और १९२४ और सन् ३६ की अर्ध-कुम्भियोंके अवसरपर नौकासेवादलमें काम करके आठ-दस डूबते हुओंको जीवित गङ्गासे बाहर निकालनेका सौभाग्य प्राप्त किया था। अतः गर्वसे मेरे मुखसे निकला—'अरे मछुए! तू मेरे बच्चोंसहित मुझे क्या स्नान करायेगा ? कहे तो मैं तुझे स्नान करा दूँ।' मछुआ तो बेचारा यह सुनकर चला गया, किंतु श्रीभगवान्‌को मेरी गर्वोक्ति सहन नहीं हुई। मेरा पंद्रह वर्षीय पुत्र कृष्णमोहन मुझसे बोला—'पिताजी, आप धीरे-धीरे चल रहे हैं तबतक मैं आगे चलूँ—लहरोंका आनन्द लूँ।' मैंने अनुमति दे दी; क्योंकि ऐसी धारणा लोगोंने वहाँ दी थी कि समुद्रकी लहर किसीको ले नहीं जाती। अगर ले भी जाय तो फौरन किनारेपर वापस कर देती है। मैंने सागर-तीरपर जाकर देखा कि लहरें किनारेसे कुछ दूर समुद्रमें आ रही थीं, वहीं पाँच-छः युवक लहरोंका आनन्द ले रहे थे। मेरा पुत्र भी वहीं पहुँच गया था। मैंने सोचा,

यह समुद्रमें दूरतक चला आया, इसे किनारेकी ओर लाना चाहिये। मैं पुत्रके पासतक पहुँचा। वहाँ लहरें एकके बाद एक आ रही थीं।

तीन चार लहरें लेनेके उपरान्त पुत्रसहित सागर-तीरकी ओर चला। देखता क्या हूँ कि मेरी पत्नी मेरी १७ वर्षीया विवाहिता पुत्री माधुरीसहित वहीं लहरें लेने पहुँच गयी है। दो-तीन लहरें वे लोग भी लेकर अब किनारेकी ओर चलीं। जब किनारा आठ-दस गजके लगभग रह गया तो पैरोंके नीचेसे रेता खिसका। जान पड़ा, हम सब डूबे। मेरा दाहिना हाथ मेरी पत्नी पकड़े थी तथा बायाँ हाथ पुत्री पकड़े थी। मेरी पत्नीका दूसरा हाथ मेरा पुत्र पकड़े था। अब सब लोग डूबे, मैं पंजेके बल उचक रहा था, किंतु सागरका जल मुँहतक पहुँच रहा था। मैंने विचार किया कि मेरे दोनों हाथ फँसे हैं। एकको छोड़कर दूसरेको तो मैं गोता लगाकर भी किनारे पहुँचा सकता हूँ; किंतु यह निश्चित न कर सका कि पत्नीको छोड़ूँ अथवा मातृहीना पुत्रीको। (मेरी पत्नी दूसरे विवाहकी थी और पुत्री माधुरी तथा पुत्र कृष्णमोहन पहली स्त्रीकी संतान थे।) कोई निश्चय न कर सकनेके कारण मेरी भी जलसमाधि निश्चित थी। मैं भी गोता खा गया; किंतु तैरना जाननेवाला सुगमतासे नहीं डूबता। एक बार जलके ऊपर आया तो मैं उच्चस्वरसे सहायताके लिये चिल्लाया। वही मल्लाह, जिससे मैंने अभिमानयुक्त वचन कहे थे, मेरी सहायताके लिये आगे आया। हमलोग चार इकट्ठे डूब रहे थे। इस कारण मददके लिये एक मल्लाह उसने और बुलाकर हम सबको बाहर निकाला। मैंने इनाम बीस रुपये दिये। पहले तो मल्लाहने फेंक दिये कि चार जीवोंका मूल्य केवल बीस रुपये। मैंने समझाया—भैया, परदेशमें ज्यादा रुपये लेकर नहीं चले थे, मान जाओ।' मल्लाह मान गया; परंतु वहाँसे शीघ्रातिशीघ्र चलकर अपने घर पहुँचे। यह प्रत्यक्ष देख लिया कि सचमुच ही भगवान्‌की खुराक अभिमान है। दोनों हाथ फँसे रहनेके कारण मैं तैर न सका और डूबा। भगवान्‌ने मेरा अभिमान चूर कर दिया।

—चतुर्वेदी मदनमोहन मिश्र,
मोतीनगर, लखनऊ

(४)

धोली मैयाकी बेटी

हम चार भाई-बहनोंमें सुलु सबसे छोटी और मेरे पिताजीको बड़ी प्यारी थी। पासके ही मुहल्लेमें नाथु भाई और धोली बहन रहते थे। उनके कोई संतान नहीं थी। धोली बहन किसी बच्चेको देखती तो प्यारसे विह्वल-सी हो जाती। परंतु प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चेको इनके यहाँ भेजनेसे डरते। कहीं नजर न लग जाय, कोई टोना न हो जाय। अतएव उन दोनोंकी बच्चेकी तृष्णा बढ़ती ही रही और इनमें भी धोली बहनकी तो बहुत ही। एक दिन सुलु खेलती-खेलती नाथु भाईके घर पहुँच गयी और उनका प्यार-दुलार देखकर उनकी गोदीमें खेलने लगी। इससे मेरी माँको जरा दुःख हुआ, लेकिन पिताजीने मेरी माँको समझा दिया। तबसे नन्हीं-सी सुलु धोली बहन और नाथु भाईकी लाड़ली बेटी बन गयी। अब तो वह हमारे घरकी अपेक्षा उनके यहाँ अधिक रहने लगी। पाठशालासे सीधी धोली मैयाके पास जाती, उसके बाद ही घर आती।

एक शनिवारको सुलु दुपहरके बारह बजेतक घर नहीं आयी। मेरी माँने मुझे पता लगाने भेजा। पाठशाला बंद हो गयी थी; इसलिये मैं सीधा धोली मैयाके घर पहुँचा। दरवाजेसे ही देखा सुलु बैठी-बैठी रोटी बना रही थी। सिगड़ीपर रक्खे तवेपर अलग-अलग आकारकी आधी कच्ची, आधी पक्की रोटियाँ सेंक रही थी। सामने बैठी धोली मैया उसे सिखा रही थीं और नाथु भाई 'बेटी याँ, बेटी याँ।' यों सुलुको प्रोत्साहन दे रहे थे। मैं तो देखता ही रह गया। कहाँ यह सुलु और कहाँ हमारे घरकी सुलु! मेरी माँकी तबीयत अच्छी न हो और सुलुको कोई काम सौंपा जाय तो वह मुँह चढ़ाकर हाथ उछालने लगे।

एक दिन सुलुने धोली बहनसे, उनकी पेटीमें इकट्ठी की हुई काठकी छोटी-छोटी मीनेके रंगोंसे सजायी हुई पेटी माँगी। धोली बहनने उस समय पेटी नहीं दी। सुलुका मुँह लटक गया। इतना प्यार-दुलार करती है, बेटी-बेटी पुकारती है और एक छोटी-सी लकड़ीकी पेटी देनेमें हिचकिचाती है!

ऊपरकी बातोंको वर्षों बीत गये। मेरी बदली अंकलेश्वरसे भरौंच हो गयी थी। सुलु भी बड़ी हो गयी थी। उसका विवाह हो गया था। एक दिन सुलु और उसके पतिके साथ हमलोग अंकलेश्वर गये। वहाँ धोली मैयावाली गलीसे निकले तो धोली मैया याद आ गयीं। नाथु भाई तो नहीं थे पर धोली मैयासे मिलने हमलोग उनके घर गये। अब उनको पूरा

दिखायी नहीं देता था। सुलुको दूरसे पहचान भी नहीं सकीं। परंतु नजदीक जानेपर, 'आव बेटी' कहकर उसे भुजाओंमें ले लिया। खूब प्यार करके पास बैठा लिया। मेरी पत्नी और सुलुके पति इस प्रेम-भरपूर मिलनको देखते ही रह गये। धोली मैयासे अब अच्छी तरह उठा नहीं जाता था। अतएव उन्होंने पड़ोससे एक बहिनको बुलाकर हम सबको चाय पिलायी।

हम उठने लगे, चलनेको तैयार हुए तो धोली मैयाने सुलुको फिर बैठा लिया और पड़ोसिन बहिनसे उस लकड़ीकी छोटी पेटीको मँगवाकर सुलुके हाथमें रखते हुए कहा—'बेटा ! तू छोटी थी, तब तैंने यह पेटी माँगी थी, मैंने नहीं दी; मेरे मनमें थी कि तेरे विवाहमें इसे भेटके रूपमें हमारी याददास्तके तौरपर तुझे दूँगी। तबसे इसको सहेजकर रक्खी है। आज कितने वर्षोंपर तू आयी। मुझे आशा थी ही कि मेरी बेटी मुझसे मिलने अवश्य आयेगी, तब मैं उसे दूँगी। आज मेरी उस आशाको सचमुच ईश्वरने पूरी कर दिया।' उनकी आँखसे अश्रुबिन्दु जमीनपर टपक पड़ा। मुझे भी उन दिनोंका स्मरण हो आया और मेरी आँखोंमें भी जल आ गया। ईश्वरने कैसा मिलन रच रक्खा था। सुलु अपनी मैयाके चरणोंपर पड़कर खड़ी हुई। धोली मैयाने सिरपर हाथ रक्खा—'सुखी हो बेटी !' मानो सगी बेटीको विदा कर रही हों। यों उनकी आँखोंमें आँसू छलक आये।

फिर छः महीने बाद ही समाचार मिला कि धोली बहन देवलोकको प्राप्त हो गयी हैं। मानो सुलुकी अनामत सौंपनेके लिये ही जी रही हों। (अखण्ड आनन्द)

—कृष्णवदन ओच्छवलाल शाह

(५)

निराश्रित गरीबकी ईमानदारी

मेरे एक परिचित सज्जन अपने कुटुम्बसहित एक स्पेशल टैक्सी किरायेपर लेकर शिवपुरसे माण्डवगढ़-चित्तौड़गढ़की यात्राके लिये निकले। वापस लौटते समय इन्दौरमें मुझसे मिले। उन्हें रुकना नहीं था। प्रभु-पूजा, भोजन तथा दूसरे जरूरी काम करके वे शामको ही लौट जाना चाहते थे। वे किसी दूसरेके घर भोजन करना नहीं चाहते थे, परंतु नरसिंग बाजारके एक सज्जन आग्रह करके भोजनके लिये उनको अपने घर ले गये। भोजन करके वापस लौटते समय बाजारमें फल आदि खरीदते समय दस-दसके नौ नोट उनकी जेबसे नीचे पड़ गये। कब कहाँ पड़े, इसका उनको कोई पता ही नहीं लगा। वहाँसे आगे बढ़कर दूसरी कोई चीज खरीदने लगे, तब उन्हें अपनी असावधानीका पता लगा और जहाँ भोजन किया था वहाँ तुरंत ही लौटकर उन्होंने घरवालोंसे पूछा कि 'मेरे कुछ जरूरी कागज आपने देखे हैं क्या ? कहीं भूलसे यहाँ रह गये हों।' खोजनेपर कहीं कुछ नहीं मिला। 'रुपये खो गये हैं'— यह कहना उनको उचित नहीं लगा। रुपये कहीं रास्तेमें ही गिरे होंगे, अब उनका मिलना असम्भव है, यह समझते हुए भी भीतरकी आशा उनकी नजरको इधर-उधर दौड़ा रही थी। यों वे चारों ओर दृष्टि डालते हुए चले जा रहे थे। उनकी ऐसी स्थिति देखकर बगलके फुटपाथपर कुछ बेचनेके लिये बैठे हुए एक निराश्रित भाईने उनसे पूछा—

'सेठजी ! क्या खोज रहे हैं, आपका कुछ खो गया है ?'

'हाँ, कुछ रुपये खो गये हैं'—उन्होंने कहा।

'कितने रुपये थे सेठजी ?' निराश्रितने पूछा।

'नब्बे रुपये थे।' उन्होंने उत्तर दिया।

'कुल कितने नोट खोये हैं ?' इतमीनान करनेके लिये निराश्रितने पूछा।

'दस-दसके नौ नोट थे, भाई ! तुमने देखे हैं क्या ?' उन्होंने स्पष्टीकरण किया।

'लीजिये सेठजी ! ये अपने नोट, गिनकर देख लें, पूरे हैं न ?' निराश्रितने अपनी जेबसे नोटोंको निकालते हुए कहा।

फिर, वे सज्जन इसके बदले निराश्रितको दस रुपये देने लगे। पर अन्तमें उसने नहीं लिये, सो नहीं ही लिये। एक साधारण-से दीखनेवाले मनुष्यमें ईमानदारीकी कितनी दृढ़ निष्ठा है ! (अखण्ड आनन्द)

—मुनिश्री मृगेन्द्र मुनि वैनतेय

७४ पुस्तकोंके दामोंमें कमी

पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी लिखी हुई ७२ पुस्तकोंका मूल्य घटाकर पुराना मूल्य कर दिया गया है।

पुस्तकका नाम	मूल्य
कर्मयोगका तत्त्व	१.१२
महत्त्वपूर्ण शिक्षा, सजि०	१.३७
परम साधन, सजि०	१.३७
मनुष्य-जीवनकी सफलता, सजि०	१.३७
परम शान्तिका मार्ग, सजि०	१.३७
ज्ञानयोगका तत्त्व, सजि०	१.३७
प्रेमयोगका तत्त्व, सजि०	१.३७
तत्त्व-चिन्तामणि, भाग १	.६२
,, ,, ,, २	.८७
,, ,, ,, ३	.७०
,, ,, ,, ४	.८१
,, ,, ,, ५	.८१
,, ,, ,, ७	१.१२
तत्त्व-चिन्तामणि, गुटका साइज	
भाग १, सजि०	.५०
भाग २, सजि०	.५६
भाग ३, सजि०	.५०
भाग ४, सजि०	.६२
भाग ५, सजि०	.५६
रामायणके आदर्श पात्र	.३७
स्त्रियोंके लिये कर्त्तव्य-शिक्षा	.३७
परमार्थपत्रावली भाग १	.२५
,, भाग २	.२५
,, भाग ३	.५०
,, भाग ४	.५०
अध्यात्मविषयक पत्र	.५०
शिक्षाप्रद पत्र	.५०
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	.२५
महाभारतके आदर्श पात्र	.२५
ध्यान और मानसिक पूजा	.२०
आदर्श नारी सुशीला	.२०
आदर्श भ्रातृप्रेम	.२०
गीता-निबन्धावली	.१६
नवधा भक्ति	.१२
बाल-शिक्षा	.१२
भरतजीमें नवधा भक्ति	.१२
नारी-धर्म	.१०

पुस्तकका नाम	मूल्य
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	.१०
गीता पढ़नेके लाभ	.१०
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा	.०८
सामयिक चेतावनी	.०६
श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश	.०६
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	.०६
श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन	.०६
गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका रहस्य	.०५
संत-महिमा	.०५
वैराग्य	.०५
भगवान् क्या हैं ?	.०३
भगवान्की दया	.०३
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग	.०३
सत्यकी शरणसे मुक्ति	.०३
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	.०३
व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति	.०३
स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग	.०३
ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन	.०३
परलोक और पुनर्जन्म	.०३
अवतारका सिद्धान्त	.०३
चतुःश्लोकी भागवत	.०३
धर्म क्या है ?	.०२
त्यागसे भगवत्प्राप्ति	.०२
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	.०२
प्रेमका सच्चा स्वरूप	.०२
हमारा कर्त्तव्य	.०२
महात्मा किसे कहते हैं ?	.०२
ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है	.०२
चेतावनी	.०२
कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ	.०२
श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव	.०२
शोकनाशके उपाय	.०२
तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें	.०२
Gems of Truth Part I	75 P.
" " " II	75 P.
What is God ?	12 P.
What is Dharma ?	5 P.

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६९ की आधे मूल्यपर मिलेगी

अजिल्द मूल्य ३८ पैसा, पूरे कपड़ेकी जिल्दका ४५ पैसा। इस पुस्तकमें कमीशन नहीं मिलेगा, थोड़ी-सी प्रतियाँ शेष हैं। डाकखर्च अलग

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीताप्रेस-सेवादल

राजस्थान अकाल-सेवा-कार्य

राजस्थानमें अकालपीड़ित प्राणियोंकी, विशेषकर गौओंकी सेवाका कार्य ठीक चल रहा है। 'गीताप्रेस-सेवादल'के सेवा-केन्द्रोंमें इस समय लगभग ५,२०० (पाँच हजार दो सौ) गोवंशकी सेवा हो रही है। इस सेवा-कार्यमें वहाँके उत्साही सम्भ्रान्त कार्यकर्त्तागण जिस लगनसे सेवा कर रहे हैं, वह आदर्श है। महीनोंसे अपने घरके कामकी परवा न करके अनवरतरूपसे रात-दिन वे लोग निःस्वार्थ सेवामें लगे हैं। सरकारी डाक्टर तथा कम्पाउण्डरोंने भी बड़ी सेवा की है और कर रहे हैं; इनमें कई महानुभावोंका सेवाकार्य तो इतना महान् है कि वह उनके चरणोंमें श्रद्धा-भक्तिसे मस्तक झुका देता है। सरकारी अधिकारी महानुभाव भी पर्याप्त सहायता-सहयोग करते हैं। गीताप्रेस-सेवादलके सब केन्द्रोंमें अबतक लगभग साढ़े पाँच लाखसे अधिक रुपये व्यय हो चुके हैं। इसमें सरकारी अनुदान भी शामिल है। यह जो कुछ कार्य हुआ और हो रहा है, उसका सारा श्रेय उन गोभक्त सेवाप्रेमी सेवा करनेवालोंको और उदारहृदय गोभक्त दाताओंको है। इसके लिये हमलोग उन सभीके कृतज्ञ हैं। हम तो निमित्तमात्र हैं।

वर्तमान परिस्थितिके अनुसार लगभग सवा लाख रुपये मासिक खर्च है और वर्षा न होनेतक कार्य चालू रखना आवश्यक है। जो महानुभाव सहायता करना चाहें, वे 'गीताप्रेस-सेवादल' द्वारा गीताप्रेस, पोस्ट गीताप्रेस (गोरखपुर), उत्तरप्रदेशके पतेपर भेज सकते हैं। ड्राफ्ट या चेक भेजें तो गीताप्रेस, गोरखपुरके नामका भेजना चाहिये।

विनीत,

व्यवस्थापक—गीताप्रेस-सेवादल, गोरखपुर

(राजस्थान अकाल-सेवा-विभाग)